सिद्धयोग

संस्थापक संरक्षक एवं
संपादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष १५
अंक २
जून १९८२

श्री सिद्ध गुफा
प्रकाशन
सँवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

- तस्मै महेशाय नमस्करोमि — १
- अनादि सिद्ध एवं साधन सिद्ध
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज — २
- योग-चिकित्सा
  श्री गिरीशदेव वर्मा — ६
- वेदान्तिक जीवन का मार्ग
  श्री बालकराम दीक्षित — १२
- चीर-हरण
  श्री रामसजीवनसिंह — २०
- सन्त मत में साधना
  स्व० श्री सम्पूर्णानन्द जी — २४
- श्री सद्गुरु क्यों ?
  श्री केशव उपाध्याय — ३६
- योगासनों की परम उपादेयता — ४१
- योग साधन और स्वास्थ्य की महत्ता
  श्री शिवकुमार वैद्य — ४६
- कुण्डली जागरण सभी योग-विधान का आश्रय है
  श्री हीरालाल शास्त्री — ४७
- प्राण-शक्ति —टाइटिल ३

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य १८ रुपया

सिद्ध योग

वर्ष १५
अङ्क ३

जून
१९८२

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

तस्मै महेशाय नमस्करोमि

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः,
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्त दृष्टे,
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥

अर्थात्

यों तो जीव और ईश्वर एक दूसरे के सखा हैं और इस शरीर में इकट्ठे ही निवास करते हैं। परन्तु जीव सर्व-शक्तिमान आपके सख्य भाव को नहीं जानता जैसे रूप, रस, गन्ध आदि विषय अपने आपको प्रकाशित करने वाली नेत्र, घ्राण आदि इन्द्रिय-वृत्तियों को नहीं जानते। कारण कि आप जीव और जगत के द्रष्टा हैं दृश्य नहीं, इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूं।

—दक्ष

हमारा विशेष लेख—

卐 अनादि सिद्ध एवं साधन सिद्ध

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने इससे पूर्व अपने लेख में सिद्ध शब्द की परिभाषा बताते हुए हमने सउदाहरण स्पष्ट किया था कि 'सिद्ध' शब्द का आशय क्या है। और जो इस सिद्ध शब्द की परिभाषा में आते हैं, वे किस प्रकार 'कर्तुं' अकर्तुं' अन्यथा कर्तुं'' की क्षमता वाले सिद्ध हुआ करते हैं। अपने इस प्रस्तुत लेख में हम यह समझाने की चेष्टा कर रहे हैं कि सिद्ध कितने प्रकार के होते हैं।

इस विषय में शास्त्र-सम्मत तो यही बात सामने आती है कि मुख्यतः इनके दो भेद होते हैं—एक अनादि सिद्ध, दूसरे साधन-सिद्ध। इनमें अनादिकालीन सिद्ध वे होते हैं जो सृष्टि के आरम्भ काल से चले आते हैं। योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने ईश्वर का लक्षण करते हुए बतलाया है कि—

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इनसे बिलकुल अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। वह सदा ही मुक्त है और अनन्त काल की ज्ञानगति से सदा ही सिद्ध है। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य—

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः।

ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः कैवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति, योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्

शास्त्रं पुनः किन्निमित्तं ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादि सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं । न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात्, तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति । कस्माद् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात् । तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुष विशेष इति ।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये सभी क्लेश कहलाते हैं और जिन क्रियाओं के अन्दर अच्छे और बुरे का लगाव रहता है, उनको कर्म कहते हैं और कर्मों के फल को विपाक कहते हैं और कर्म फल को अनुसरण करने वाली भावना को वासना कहते हैं । और ये सभी मन में रहा करते हैं किन्तु व्यवहार में जीवात्मा के अन्दर रहते हैं ऐसा कहा जाता है । वह जीवात्मा ही इनके फलों का भोक्ता है । जैसे कहीं पर बड़ी भारी लड़ाई हो रही हो और किसी पक्ष के सिपाही लड़ाई करने वाले जीत जायें तो वह जीत सिपाहियों की नहीं मानी जाती, प्रत्युत उनके मालिक उस राजा की मानी जाती है जो उस देश का राजा है । यथार्थ में वह राजा इस विजय से छुआ तक नहीं । इसलिये क्लेश, कर्म, विपाक आदि वर्तमान तो मन में ही रहते हैं और मन प्राकृत है, त्रिगुणात्मक है । उसका पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु फिर भी लोक व्यवहार में वह सुखी है वह दुःखी । इस प्रकार का व्यवहार आत्मा के लिए देखने में आता है वस्तुतः तो सुख-दुःख, क्लेश-कर्म-विपाक् आदि का विषय मन और बुद्धि का है । इसी कारण से वह अनादि-काल से ही परम-सिद्ध ईश्वर क्लेश-कर्म-विपाक् आदि के भोगों से अपरामृष्ट है ।

यहां पर कोई एक प्रश्न पैदा करता है कि बहुत से केवली लोग इस प्रकार के हैं, जो क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से छूटकर एवं तीनों बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त हो गये हैं । ये लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक आदि से अपरामृष्ट हैं । इनको भी ईश्वर क्यों नहीं माना जाता ? उत्तर—इसका यह है, कि ऐसे लोग पहले तो बन्धन-कोटि में ही थे, किन्तु अपने साधन बल से बड़े भारी पुरुषार्थ के बाद वे लोग तीन बन्धनों से छूट गये हैं । इसी प्रकार कुछ ऐसे लोग होते हैं जो

शुरू से ही प्रकृतिलीन चले आते हैं। उनकी भी कालान्तर में बन्ध-कोटि की सम्भावना ही की जा सकती है पर ईश्वर के साथ इन तीन बन्धनों का सम्बन्ध नहीं है वह ईश्वर तो सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है।

प्रश्न—ईश्वर का प्रकृष्ट सत्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष किसी कारण को लेकर है, या बिना कारण के है?

उत्तर—उस ईश्वर के उस प्रकृष्ट सत्वोपादानादि का कारण शास्त्र है एवं शास्त्र का कारण प्रकृष्टसत्व है। इन प्रकृष्टसत्वादि और शास्त्रोत्कर्ष आदि का अनादि सम्बन्ध है। इसलिये वह ईश्वर सदा ही मुक्त है एवं सदा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य "सम्यातिशयविनिर्मुक्त" है, क्योंकि उस ईश्वर के समान कोई और सर्वशक्तिमान नहीं है। उदाहरण में इस बात को इस प्रकार से समझ लीजिये कि किसी एक वस्तु के लिए दो की यह भिन्न-भिन्न प्रकार की कामना है—एक कहता है कि यह वस्तु नयी हो जाये और दूसरा कहता है कि नहीं, यह वस्तु पुरानी ही रहनी चाहिए। इसलिए इस विषय में विवाद रहने पर एक की कामना पूर्ण नहीं होगी और दूसरे की पूरी हो जायेगी। इस प्रकार एक की कामना का विघात हो गया और दूसरे की कामना पूर्ण हो गई। इसलिए जिसका ऐश्वर्य 'साम्यातिशयविनिर्मुक्त' है। अर्थात् जिसकी शक्ति से बढ़ करके और किसी की शक्ति नहीं है वही ईश्वर है और उस ईश्वर का ऐश्वर्य सदा-सर्वदा रहने वाला है। इसीलिये यह कहा गया है कि—

य देवातिशायी, शैव ईश्वरः

अर्थात् जो सबके ऐश्वर्यों का अतिक्रमण कर गया है वही ईश्वर है और अनादि काल की ज्ञान-गति से स्वतः ही सिद्ध है। उसको शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की कोई साधना नहीं करनी पड़ी, इसलिए ईश्वर को अनादि-सिद्ध माना गया है, इसलिए ईश्वर कोटि में वर्तमान भगवान ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं भगवती महा-माया दुर्गा और कपिलादि मुनि ये सबके सबही अनादिकालीन महासिद्ध हैं। इन सबको कभी किसी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिए इनमें से किसी का भी कहीं अवतरण होता है या ये लोग कोई कार्य विशेश करना चाहते हैं तो वह काम अपनी अनादिकालीन शक्ति के द्वारा जो शक्ति इनके शाश्वतिक उत्कर्ष के साथ अनन्त काल से है ही है किया करते हैं। इसलिये इनको अनादिकालीन महासिद्ध माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्-भगवद्गीता के अन्दर स्वयं अपने आपको पुरुषोत्तम स्वीकार कर रहे हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके,
क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि,
कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,
परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य,
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम-
क्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च,
प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

अर्थात् अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! संसार में दो पुरुष हैं—एक क्षरात्मक और दूसरा अक्षर। क्षर तो ये सभी पञ्च महाभूत हैं और कूटस्थ जो जीवात्मा है, वह अक्षर कहलाता है और उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है, जो सर्व व्यापक तीन लोक का पालन-पोषण करता है, उसी का नाम परमात्मा है। इसलिए हे अर्जुन ! मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे पुरुषोत्तम कहलाता हूँ। पुरुषोत्तम में एवं पुरुष विशेष में कोई भी अन्तर नहीं है। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी अनादिकालीन महासिद्ध हैं और इन सभी का ऐश्वर्य "साम्यातिशयविनिर्मुक्तः"। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के वे सिद्ध लोग हैं जो विशेष प्रकार की साधनायें करके सिद्ध हो गये हैं। वे लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक् आदि की अपरामृष्टता को प्राप्त तो हो गये हैं, किन्तु अपनी साधना के बल से। भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योग-दर्शन में कर्म जाति को चार प्रकार से माना है। उनमें से पाप-कर्म एक प्रकार के, पुण्य-कर्म दूसरे प्रकार के एवं पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म तीसरी प्रकार के और जो कर्म न पाप के हैं और न पुण्य के हैं, वे कर्म योगियों के कहलाते हैं। पाप-पुण्य के झमेले को छोड़कर करने मात्र के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म आशुक्ल एवं आकृष्ण कहलाते हैं अर्थात् इन कर्मों से पाप और पुण्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वर के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध कभी था ही नहीं और जो लोग साधनायें करके सर्व सामर्थ्यता को प्राप्त कर गये हैं वे लोग आशुक्ल-आकृष्ण के कर्मों को प्राप्त होगये हैं। पढ़िये योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव का इस विषय का आदेश एवं व्यास भाष्य की पंक्तियाँ। इससे यह सिद्ध हो जायेगा कि योगी लोग अपने आपको क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से अपरामृष्ट अपनी साधना के बल पर हो पाते हैं और ईश्वर के लिए कभी इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसीलिए क्लेश, कर्म, विपाक्, अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर कह करके ईश्वर की सदाकालीन अपरामृष्टता को बतलाया और साधना करके सिद्ध होने वाले योगियों को साधन बल से

प्राप्त क्लेश, कर्म, विपाक आदि की अपरामृष्टता को बतलाया। यही कारण है कि योगियों के कर्म क्रिया मात्र के पाप पुण्य रहित बतलाये हैं :—

"कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णाचेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा बहिः साधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रह द्वारेण कर्माशय-प्रचयः, शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवतां सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति, तत्रा शुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद अकृष्णं चानुपादानाद, इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति।"

अर्थात् इस चतुर्विध कर्म जाति के अन्दर पाप के कर्म, पुण्य के कर्म, पाप और पुण्य के मिश्रित कर्म यह तीनों प्रकार के कर्म संसार वालों के हुआ करते हैं और पाप-पुण्य रहित केवल क्रियामात्र के कर्म केवलमात्र योगियों के हुआ करते हैं क्योंकि वे लोग अपनी साधना के बल से क्लेश, कर्म आदि से विमुक्त हो जाया करते हैं। योगी लोग अपनी तीव्र-साधना के आधार पर प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का उद्‌बोधन करके और साधना बल से उसको सहस्रार में ले जाकर विलीन कर देते हैं और षट्‌चक्रों का पूरी तरह से भेदन करके ज्ञान-विज्ञान पर पूरा अधिकार करके पूरी सामर्थ्य वाले हो जाया हैं। योगी अपने संयम के बल पर कितनी बड़ी ताकत वाला हो जाया करता है। वह जहां-जहां संयम करता है वहां-वहां की शक्ति को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेता है। पढ़िये योगी की संयम शक्ति को बतलाने वाला सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की टीका—

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः।

सूक्ष्मे निविशमानस्यपरमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवन्तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः। तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति॥

अर्थात् जब योगी सूक्ष्म विषयों में संयम आरम्भ करता है तो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक का साक्षात्कार कर लेता है। और जब योगी स्थूल विषयों में अपने चित्त को संयमित करता है तो परम महत्व अर्थात् मूल प्रकृति-पर्यन्त का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार से छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विषय में संयम करता हुआ योगी अपने संयम बल को पूर्णरूपेण सिद्ध कर लेता है। फिर उसका

संयम बल इतना उत्कृष्ट हो जाता है कि उसको किसी विषय के साक्षात्कार करने के लिये संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने संकल्प बल से ही वह संयम को सिद्ध करता है। और जहां-जहां योगी संयम करता है वहां-वहां की ताकत को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से योगी अपने संयम समाधि के बल से पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है। ऐसे साधन सिद्ध योगी सर्व-सामर्थ्य वाले होते हैं। ये लोग भी क्लेश, कर्म आदि से अपरामृष्ट होते हैं किन्तु इन साधन सिद्ध लोगों में एवं अनादि सिद्धों में इतना ही अन्तर होता है कि ये लोग अपनी साधनाओं के बल पर सामर्थ्य-वान होते हैं और इनका ऐश्वर्य क्योंकि शाश्वत एवं शाश्वतिक उत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाला होता है अतः शाश्वतिक उत्कर्ष से परिपूर्ण होता है। इनके सामर्थ्य में भी किसी प्रकार की कमी नहीं होती। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी मेरे श्री गुरुदेव जी महाराज, हिमालय की पावन कन्दराओं में निवास करने वाले साधन सिद्ध योगियों के विषय में जिक्र किया करते थे कि वे लोग अपनी-अपनी साधनाओं के बल पर परमोत्कृष्ट बल एवं ऐश्वर्य वाले होते हैं। एवं उन सभी के अन्दर सृष्टि निर्माण सामर्थ्य भी हुआ करता है। यद्यपि वे लोग परम योगी ईश्वर के कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते हैं फिर भी यदि वे लोग चाहते हैं तो अपने संकल्प मात्र से सृष्टि-निर्माण की सामर्थ्य वाले भी होते हैं। हिमालय के अन्दर इस प्रकार के योगेश्वर बैठे हैं जिनमें से किसी ने भी क्षण-भर के लिये विचार कर लिया कि— 'एकोऽहं बहुस्याम्।' इतना संकल्प मन में आते ही एक से अनेक हो जाते हैं। अपने रोम कूपों से हजारों स्त्रियों को और दूसरी ओर से अपने ही रोम-कूपों से हजारों पुरुषों को पैदा करके एक नगर जैसा बसा कर सभी लौकिक व्यवहारों का सम्पादन करने लगते हैं। उनके सृष्टि-सृजन में कोई यह जान भी नहीं पाता कि यह इतने स्त्री पुरुष कहां से पैदा हुए और कहां इनकी लीनता होगी। देखने वाले तो यही जानते हैं कि ये लोग भी हमारे-तुम्हारे ही तरह के साधारण लोग ही हैं। इस प्रकार सृष्टि-विस्तार करके जब महायोगेश्वर चाहते हैं एक श्वांस के आकर्षण से अपने अन्दर सभी को विलीन भी कर लेते हैं। पाठकगण इन सब बातों में संशय न मानें। हमारा प्राचीन इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि योगियों में इतनी बड़ी सामर्थ्य हुआ ही करती थी। रामचरित मानस को पढ़ने वाले लोग यह भली प्रकार से जानते हैं कि भरत जी महाराज जिस समय अपने मन्त्रि-मण्डल सहित एवं अतुलित सैन्य बल को साथ लेकर अयोध्या जी में राम को वापस लाने के लिये गये एवं रास्ते में भारद्वाज ऋषि के आश्रम में

निवास किया तो श्री भरद्वाज जी महाराज ने अपनी अतुलित योग शक्ति से हजारों जन-वासे एवं दास दासियों को और सेनाओं के निवास को भी सब उचित स्थान बना दिये। यह सब श्री भरद्वाज जी की यौगिक शक्ति का ही परिणाम था। इस ही प्रकार श्री विश्वामित्र जी का महाराजा त्रशंकु के लिये नये स्वर्ग का निर्माण करना आदि विपुल कार्य इनकी अलौकिक शक्ति के परिचायक थे। ये साधन सिद्ध योगियों के लक्षणों से युक्त थे। आजकल इस कलिकाल के समय में भी श्री गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, नेमीनाथ आदि-आदि नाथ सम्प्रदाय के एवं गोपीचन्द्र भर्तृहरि आदि पूर्ण-सिद्ध योगिराज सर्व सामर्थ्यवान् सिद्धयोगी हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधनाके बल पर ही इतना ऊँचा अपने आपको उठा लिया कि उनका ऐश्वर्य देखते ही बनता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

—❀❀❀—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

मनुष्य का हृदय नित्य - निरन्तर विभिन्न प्रकार की इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओं से भरा रहता है। इसी कारण न तो कभी वह यह विचार ही करता है कि परम आनन्द स्वरूप परमेश्वर को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्य-विषयों की आसक्ति के कारण वह परमात्मा को पाने की अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनायें साधक पुरुष के हृदय से जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह सदा से मरण-धर्मा प्राणी अमर हो जाता है और यहीं इस मनुष्य-शरीर में ही वह परब्रह्म परमेश्वर का भली-भांति साक्षात् अनुभव कर लेता है निष्काम-कर्मयोग करने की प्रेरणा देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

जो अपने सब कर्म मुझे समर्पित करते हैं, मुझमें परायण हैं और एक निष्ठा से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, जिनका चित्त इस प्रकार मुझमें ओत-प्रोत है, उनका जीवन और मृत्यु के संसार-सागर में गोते लगाने से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ।

पूर्व प्रकाशित से आगे -

योग-चिकित्सा

श्री गिरीशदेव वर्मा

सर्वांगासन का क्या प्रभाव थीरायड पर पड़ता है, इसके सम्बन्ध में हमने अभी तक चर्चा की है। अब हम जानना चाहेंगे कि इस आसन का प्रभाव पैरा थीरायड ग्रन्थि पर क्या पड़ता है और उससे कौन-कौन से रोगों को लाभ पहुँच सकता है।

पैरा थीरायड ग्रन्थि
(Para Thyroid glands)

इस ग्रन्थि की संख्या चार होती है। दो ग्रीवा में थीरायड ग्रन्थि के ठीक पीछे स्थित रहती हैं। इन ग्रन्थियों का आकार छोटा लगभग छः मि० मी० लम्बाई में व ३ से ४ मि० मी० चौड़ाई में होता है। इसका रंग भूरा लाल होता है। दो ग्रन्थियां ऊपर और दो नीचे स्थित रहती हैं। इस ग्रन्थि से पैरा थ्रिन (Para Thrin) नामक हारमोन प्रवाहित होता है। इस हारमोन का कार्य रक्त में कैलशियम और फासफोरस की मात्रा पर नियन्त्रण रखना है। इस हारमोन की कमी से बच्चों की हड्डियां कमजोर व लचीली हो जाती हैं। जब इस ग्रन्थि की क्रियाशीलता कम हो जाती है तब मनुष्य के हाथ पैरों में ऐंठन होने लगती है।

मनुष्य में थीरायड व पैरा थीरायड दोनों ग्रन्थियां बहुत ही निकट से सम्बन्धित रहती हैं और उनका अन्तर ज्ञात नहीं पड़ता है, किन्तु अन्य पृष्ठ-वंशीय पशुओं में यह दोनों ग्रन्थियां अलग दिखाई पड़ती हैं। पहले वैज्ञानिक यही समझते थे कि पैरा थीरायड कोई अलग ग्रन्थि नहीं है बल्कि थीरायड का ही एक अंग है। चीर-फाड़ के समय जब किसी पशु के गले से थीरायड निकालते थे तब पैरा थीरायड ग्रन्थि भी निकल जाती थी और तब पशु में ऐंठन व अकड़न शुरू हो जाती थी। अतः बहुत दिनों तक यह समझा जाता रहा कि थीरायड के निकालने से ही अकड़न होती है। बाद को विज्ञान ने प्रगति की और थीरायड व पैरा थीरायड को बारीकी से देखा गया तो दोनों ग्रन्थियां अलग-अलग दिखाई दीं। इसके बाद किसी पशु की केवल थीरायड निकाल लेने पर कोई ऐंठन नहीं हुई और जब केवल पैरा थीरायड को निकाला गया तब ऐंठन शुरू हो गई। इससे यह बात निश्चित हो गई कि दोनों ग्रन्थियां अलग-अलग हैं और उनके कार्य-कलाप भी अलग-अलग हैं। शरीर में ऐंठन व अकड़न का मूल कारण थीरायड का निकल जाना या निष्क्रिय हो जाना है।

पैरा थीरायड भी एक नली विहीन ग्रंथि है।

यह अपने रस को सीधे रक्त नलिकाओं में प्रवाहित करती रहती है। हमारे शरीर के मांस तन्तुओं में एक प्रकार का विष पैदा हुआ करता है। पैरा थोरायड से निकले हारमोन इस विष को समाप्त करते रहते हैं। जब पैरा थोरायड ग्रन्थि निकाल दी जाती है या काम करना बन्द कर देती है तो यह विष मांस तन्तुओं में जमा होता रहता है और बाद को ऐंठन व अकड़न पैदा करता है।

सर्वांगासन करने पर शुद्ध रक्त की पर्याप्त मात्रा थोरायड के साथ पैरा थोरायड को भी मिलती रहती है और वे अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहते हैं। उनसे हारमोन निकल कर रक्त के विष को मारा करते हैं और शरीर में शुद्ध रक्त प्रवाहित होता रहता है और स्वस्थता बनी रहती है।

जब पैरा थोरायड ग्रन्थियाँ काम नहीं करती हैं तब अपस्मार या मृगी रोग का दौरा पड़ने लगता है। ऐसा पाया गया है कि माता पिता के वंश में यह रोग होने से, चोट लगने से, हस्त मैथुन, उपदंश, शराब पीने, बहुत बोलने, कृमि, मानसिक अवसन्नता आदि के कारण यह ग्रन्थि निर्बल हो जाती है और मनुष्य को दौरा पड़ने लगता है। इस रोग का आक्रमण होने पर रोगी जमीन पर गिर पड़ता है। किसी-किसी को सिर में चक्कर आने लगता है। ऐसा मालूम देता है कि माथे में कोई कीड़ा रेंग रहा है। कान में भों-भों शब्द बदन में दर्द, सारे शरीर में कंपकपी आदि लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। रोग आरम्भ होते ही सारे शरीर में अकड़न, गर्दन कड़ी व टेढ़ी हो जाती है। आंखों की पुतलियां नीचे-ऊपर उठने लगती हैं। हाथ की अंगुलियां सिकुड़ने लगती हैं और कलेजा धड़कने लगता है। चेहरा पहले पीला, पीछे लाल हो जाता है। मुँह से फेन निकलने लगता है। हाथ पैर पटकता है। पसीना निकलने लगता है। बीस तीस मिनट के बाद यह उपसर्ग कम हो जाते हैं और रोगी बेहोश हो जाता है। कुछ समय बाद वह होश में आकर ठीक हो जाता है।

आरगेनो थिरेपी के डाक्टरों का कहना है कि मिरगी के रोग में यदि पैरा थोरायड ग्रन्थि का तत्व दिया जावे तो उसका पैरा थोरायड स्वस्थ व सबल हो जाता है और उसे यह रोग नहीं होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि सर्वांगासन के द्वारा पैरा थोरायड को सबल बना दिया जावे तो मिरगी रोग होने की सम्भावना मिट जायगी।

सर्वांगासन के द्वारा मिरगी रोग की चिकित्सा करने का अवसर मुझे कम मिला है। एक बार एक रोगी आया भी तो उसने चार छः रोज आसन करके छोड़ दिया। कम से कम एक मास तक निरन्तर अभ्यास किया जावे तो थोरायड व पैरा थोरायड पर प्रभाव

पड़ना शुरू हो जाता है। बीस से तीस वर्ष की युवा अवस्था में इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः हर नव-युवक व नव-युवतियों को सर्वांगासन का अभ्यास करना चाहिये और इस भयंकर रोग से बचे रहना चाहिये। यह विचार ठीक नहीं है कि रोग होने पर उसकी चिकित्सा की जायगी। सदैव यह प्रयास करना चाहिये कि यौगिक आसनों द्वारा शरीर को निरोग बनाये रखा जावे और रोग के आक्रमण की सम्भावना ही न हो।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त हर मनुष्य को चाहे वह युवा हो या वृद्ध, सर्वांगासन का अभ्यास करते रहना चाहिये। हम पहले बता आये हैं कि पेरा थोरायड जो हारमोन्स निकलता है उससे मांसपेशियां विषरहित व स्वस्थ बनी रहती है। यदि मनुष्य की मांसपेशियां मजबूत हैं तो वह निरोग बना रहेगा। उसके ऊपर रोग कीटाणुओं का आक्रमण कोई प्रभाव नहीं डालेगा। उसकी युवा अवस्था स्थिर बनी रहेगी। वृद्धावस्था में जो मांस-पेशियां ढीली हो जाती हैं वह दशा इस आसन के अभ्यासी को नहीं होगी।

अतः हर दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह आसन मनुष्य मात्र के लिए एक आवश्यक आसन है। इसकी जितनी भी महिमा बताई जावे वह कम है। अभी वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं। हम लोगों को बाद में पता लगेगा कि भारतीय ऋषियों की यह अनुपम देन कितनी मूल्यवान है। इस आसन से मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है। युवा अवस्था बनी रहती है। बुढ़ापा नहीं आता और मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

संसार त्याग करने के लिए संन्यासी बनकर वन में जाना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। असल त्याग होता है मन में। मन से त्याग होते ही फिर चाहे संसार में रहें या वन में, एक ही बात है। मन से त्याग न होने पर वन में जाने पर भी संसार साथ-साथ जायगा। और सभी प्रकार के भोगों को भोगायेगा, बच नहीं पाओगे।

× × × ×

सांसारिक वासनाओं से विमुख बना मन जब ध्यान करते-करते स्थिर और शुद्ध हो जायगा तब मन ही तुम्हारा गुरु होगा। अपने अन्तर से ही गूढ़ से गूढ़ रहस्य समझने और सुलझा लेने की क्षमता पालोगे—सब संशय और प्रश्नों का समाधान हो सकेगा।

—स्वामी विरजानन्द

वेदान्तिक जीवन का मार्ग

श्री बालकराम दीक्षित, आगरा

यह वह विषय है जिसकी जिज्ञासा अधिकांश लोगों को प्रोत्साहन देती है, क्योंकि आधुनिक युग में विज्ञान का चमत्कार मानव के स्वभाव तथा मन पर प्रभाव डालता है। इसकी स्पष्ट जानकारी वेदान्त के द्वारा प्राप्त होती है।

संसार के सभी प्राणियों का जीवन एक सा है, क्योंकि प्रत्येक जीव को एक शरीर चाहिए तथा उसके संचालन के लिए इन्द्रिय-समुदाय (आंख, कान आदि) चाहिये, जिससे क्रिया तथा अनुभव की प्राप्ति अनिवार्य रूप में सम्भव है। इस आधार पर मानव में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठता का दावा नहीं।

फिर भी मानव जीवन में अपनी एक अनूठी विशेषता है, जो क्रिया और अनुभव में अन्य जन्तुओं से भिन्नता रखती है। हममें बोलने की शक्ति है, जिसके द्वारा हम आपस में सम्पर्क स्थापित करते हैं। हममें सोचने और समझने की भी शक्ति है। ये दोनों शक्तियां हमें किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित करती हैं। अस्तु ज्ञान, उद्बोधन तथा बोधगम्यता विशिष्ट रूप से मनुष्य में अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ-तम है।

यदि हम वेदान्तिक जीवन पर विचार करें तो स्वभावतः हमारी बुद्धि सर्वप्रथम सत्य को जानने की प्रेरणा देगी और हमारे जैसे अन्य व्यक्ति भी उस सत्य को जानना चाहेंगे कि जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक भी है। अस्तु यह जानने की जिज्ञासा मानवमात्र में विद्यमान है।

यह आवश्यकता इसलिये और भी है, क्योंकि मानव जीवन कभी भी स्वचालित अथवा अविचारणीय माध्यम द्वारा संचालित नहीं। अन्य जीवों में तो ऐसा सम्भव है। किन्तु प्रत्येक मानव शीघ्र अथवा देर में जीवन की वास्तविकता एवं लक्ष्य को जानना चाहता है।

किन तत्वों से जीवन बना है? हमें कैसे रहना चाहिए? जीवन का आदर्श क्या है, जिसको प्राप्त करने के लिये हम अपना विचारधारा तथा क्रियाशक्ति को प्रेरित करें? क्या कोई विशिष्ट माध्यम है, जिसके द्वारा हम स्वयं अनुभव करके अपने जीवन को शत-प्रतिशत शान्ति प्रदान कर सकें और सब प्रकार से सार्थक बना सकें? यह कुछ प्रश्न हैं, जिनको हमारे विचारवान् मस्तिष्क तथा निर्णयात्मक बुद्धि जानने की प्रतीक्षा में है।

सारांश में जीवन के प्रारम्भ अथवा कुछ समय पश्चात् हमारा स्वभाव हमें बाध्य करता है, खोज करने अथवा ज्ञात करने के लिये एक जीवन यापन का ठीक एवं प्रभावी मार्ग, जिसके आधार पर मानव जाति ने विचार करके अब तक जो कुछ प्राप्त किया है और भविष्य में जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करके मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, यह एक वास्तविकता है प्रत्येक विचारवान् स्त्री पुरुष के लिये। यदि इस वास्तविकता को न पहचान कर अथवा जान-कर सच्चे हृदय से तदनुसार कार्य नहीं किया जाता, तो निश्चय ही अपनी बुद्धिमत्ता तथा मानवता के साथ धोखा करना है।

अब वेदान्तिक जीवन का मार्ग क्या है? इसके उत्तर में मनीषियों ने बतलाया है कि धर्म एवं भारतीय दर्शन के क्षेत्र में वेदान्तिक विचारधारा तथा अनुभव के आधार पर जो जीवन-यापन की शैली है वही वेदान्तिक जीवन का मार्ग है।

वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग वेदान्त कहलाता है। वेद प्राचीनतम साहित्य है, जो मानव की धार्मिक विचारधारा का विवेचन करता है और मानव जाति के कल्याणार्थ वर्तमान में भी उपलब्ध है। इसका क्रमिक आविर्भाव एवं प्रचलन इस भारत देश में हुआ।

वेदों में आप हमारी प्राचीन प्रेरणादायिक धार्मिक विचारधारा की उत्पत्ति एवं विकास तथा ज्ञान संवर्द्धन शैली का विवेचन प्राप्त कर सकते हैं। जहां प्रारम्भ में वे आध्यात्मिक एवं काल्पनिक हैं, वहां अन्त में वे उच्चतम दार्शनिक तथा प्रगतिशील हैं।

यद्यपि आप प्रारम्भ में उन्हें प्रलोभन देने वाला समझकर पसन्द नहीं करेंगे, किन्तु अन्त में आप उन्हें प्रेम एवं श्रद्धा सहित ग्रहण करने को बाध्य होंगे। वैदिक साहित्य में क्रमिक विकास का यह लक्षण अद्वितीय है।

वेदान्त-वैदिक विचारधारा का अन्त, जो मानव के मन, बुद्धि तथा हृदय के विकास की दिशा में-धार्मिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचारधारा के अन्तिम चरण का उपसंहार करता है। इस वैदिक विचाराधारा के दो भाग हैं—(१) कर्मकाण्ड तथा (२) ज्ञान-काण्ड।

कर्मकाण्ड के विषयमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन धार्मिक विचारकों के मस्तिष्क में प्रथमतः अपरिपक्व विचारधारा का सृजन हुआ, जिसके फलस्वरूप इसको प्राथमिकता दी गई और सम्भवतयः इस ढंग से इसे प्रस्तुत किया गया।

संसार में नाना प्रकार की वस्तुयें दृष्टि-गोचर होती हैं, जो पूर्णरूपेण एक दूसरे से भिन्न हैं। इस नानात्व की भावना ने नाना

प्रकार की शक्तियों का सृजन किया, जिनके द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ। मानव की अपेक्षा शक्तियों की प्रत्यक्ष श्रेष्ठता है, अतः मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह श्रद्धा तथा आदर के साथ शक्तियों की सन्तुष्ट करे। इस सन्तुष्टि के लिये उसने सस्वर स्तुति गान एवं मन्त्रोच्चारण प्रारम्भ किया, जिससे वे प्रसन्न होवें। स्तुति गान भी विविध प्रकार से रोचकता के साथ होने लगे। तत्पश्चात् शनैः-शनैः विचारकों ने सुरक्षा हेतु धार्मिक आयोजन प्रारम्भ किये, जिनका सम्पादन द्रव्य-यज्ञों द्वारा किया जाने लगा, जिनमें घृत, सामग्री, मिष्ठान्न तथा खीर की आहुतियां मन्त्रोच्चारण के साथ प्रज्वलित अग्निदेव को स्वाहा कहकर समर्पित की गई। क्योंकि केवल मन्त्रोच्चारण तथा स्तुति गान मानव के मन की भावुकता के अनुकूल सन्तुष्टि के लिये पर्याप्त नहीं थे। अतः इस उत्तरोत्तर उन्नतशील यजन से होता का मन एवं हृदय प्रभावित होने लगे।

धीरे-धीरे इस प्रकार के अनुष्ठानों एवं आयोजनोंके द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति होने लगी। यहां तक कि स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति भी सम्भव हो गई, जहां मृत्यु के पश्चात् साधक (जीव) जाता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस पृथ्वी पर सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है। इस प्रकार अनेक सम्भावित सुखों का उपभोग करता है और उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। कर्मकाण्डी व्यक्ति का धार्मिक लक्ष्य अन्त में उपरोक्त अभीष्ट फल की प्राप्ति करना है।

आप कह सकते हैं कि कुछ धार्मिक कार्य करना और उनसे भौतिक लाभ प्राप्त करना हमारी साधारण निरपेक्ष क्रियाओं का फल हमें कर्म-काण्डी जीवन से प्राप्त होता है। जिसका विवेचन विचारपूर्वक वेदों में किया गया है और जिससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

किन्तु वेदान्त मार्ग पर आधारित जीवन की विचारधारा पूर्णतः इसके विपरीत है। सबसे प्रथम वेदान्त हमें बतलाता है कि ईश्वर (परम सत्य) एक है अनेक नहीं। वह परम सत्य कोई अनुमानित वस्तु नहीं है बल्कि एक वास्तविक सत्य है जिसे कोई भी जान सकता है और अनुभव कर सकता है। जैसा कि सामने रखे हुये किसी पदार्थ का ज्ञान एवं अनुभव किया जा सकता है। क्या शरीर की उपस्थिति किसी प्रकार की शंका उत्पन्न कर सकती है? इसी भाँति वेदान्त का उद्घोष है कि परम सत्य शंका रहित है और एक वास्तविकता है।

कर्म-काण्ड द्वारा धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप ईश्वर प्राप्ति को वेदान्त नहीं मानता। इसके विपरीत वेदान्त कहता है कि सत्य को

खोज करने वाला जिज्ञासु फल की आकाँक्षा रखने वाले कर्म-काण्डी से भिन्न 'यहां' और 'अभी' में विश्वास रखता है, परलोक तथा मृत्यु के पश्चात् नहीं। वेदान्त की जिज्ञासा में इस प्रकार के विवेक की पहली शर्त है। क्योंकि ईश्वर अथवा सत्य का अस्तित्व अनादि है, उसे किसी प्रकार के कर्म करने से प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। वह सर्व व्यापक है। उस तक पहुँचने तथा कल्पित स्वर्ग लोक अथवा पृथ्वी के किसी स्थान में उसकी उपस्थिति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

एक वस्तु जो आपके समक्ष पहले से विद्यमान है, उसे देखने के लिए आप क्या करेंगे? पहले अपनी आंखें खोलेंगे, फिर उस पर दृष्टिपात करेंगे। ऐसा करने में आपको किसी देवता अथवा शक्ति की आवश्यकता नहीं। उसे पहचानने की शक्ति प्रकृति तथा ईश्वर ने आपको पहले ही प्रदान की है, उसे युक्ति के साथ, नम्रता एवं सावधानी से प्रयोग में लाना है। ऐसा करने से आप अपने कर्म की पूर्ति तथा सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

अस्तु वेदान्त कर्मों की अपेक्षा ज्ञान के महत्व की विशेषता का प्रतिपादन करता है। उसका उद्घोष है कि सच्चे ज्ञान द्वारा मानव जीवन का लक्ष्य शाश्वत शान्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति निश्चित रूप से सम्भव है और इस प्रकार प्राप्त की हुई शान्ति एवं परमानन्द उसकी निजी सम्पत्ति हो जाती है, जिससे उसको कभी अलग नहीं किया जा सकता।

यद् चेद् वेदीत् अथ सत्यमस्ति,
न चेदिहा वेदीत् महती विनष्टिः।

आपका जीवन तभी सार्थक है यदि आप 'यहां' और 'अभी' जानने की क्रिया में सफलता प्राप्त कर लेते हैं अन्यथा असम्भावित विनाश की स्थिति से बचने का अन्य कोई मार्ग नहीं।

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाय।
सो कृत निन्दक मंदमति आत्माहन गति जाय॥
—रामचरितमानस

वेदान्त द्वारा हमारे जीवन की वर्तमान समस्याओं का समाधान एवं आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। प्रारम्भ में वैदिक साहित्य भविष्य में फल की आकांक्षा से कर्म की प्रेरणा देता है, किन्तु वेदान्त 'अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष की ओर' साधक का मार्ग-दर्शन करता है। इसके मूल में वास्तविकता एवं सत्य के अतिरिक्त असत्य वस्तुओं को स्थान नहीं। इसकी साधना कठिन है, उसके लिए समय चाहिये।

इसमें ज्ञान और उसकी खोज के अतिरिक्त किसी क्रिया विशेष में संलग्न होने की आवश्यकता नहीं—ऐसा संक्षेप में उपनिषदों द्वारा विवेचन किया गया है और मैं समझता हूँ कि आज के बुद्धि जीवियों को इसका अनुसरण करने से अवश्य ही ज्ञान की उपलब्धि होगी।

कैसे मानव इस ज्ञान को अर्जित कर सकता है, जो वेदान्त द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर भी निम्नलिखित विवेचन से ज्ञात हो जाता है—

साधक को तीन प्रकार की क्रियायें निर्दिष्ट की गई है—(१) शारीरिक (२) वाचिक तथा (३) आन्तरिक अथवा मानसिक। इनमें आन्तरिक अन्य दो का कारण है। यह अत्यन्त प्रभावशाली भी है। जिस प्रकार इलेक्ट्रोनिक कन्ट्रोल (Electronic Control) है। कर्म काण्ड के अनुसरण एवं ऋचाओं के पाठ में शरीर तथा वाणी का प्रयोग जिस आधार पर होता है, आप समझ सकते हैं इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म-काण्ड का विषय कितना प्रभावशाली होगा ?

वेदान्तिक अनुसरण में आपको शरीर एवं वाणी से कार्य नहीं लेना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान का प्राकाट्य शरीर मुख अथवा वाणी द्वारा नहीं। यह शरीर के अन्दर प्रकट होता है मानसिक चेतना द्वारा। अस्तु यदि आप अपने ज्ञान को बनाना चाहते हैं तो आपको आन्तरिक क्रिया करनी होगी। अर्थात् मस्तिष्क से सोचना होगा और बुद्धि से निर्णय लेना होगा। क्या शारीरिक एवं वाचिक क्रियायें इस आन्तरिक श्रम में आवश्यक हैं ? यद्यपि वे स्वागत योग्य हैं और सहायक भी, किन्तु अन्तर्जगत में नहीं। यह एक निर्णायक प्रश्न है, जिसको साधक स्वतः ही अनुभव कर सकता है।

वेदान्तिक साधना स्वभावतः ही श्रेष्ठ हो जाती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध मन एवं अन्तःकरण से है। इस कारण इसकी श्रेष्ठता नहीं कि सत्य की खोज करने वाले अनेकों जिज्ञासु कर्म-काण्ड तथा शिखा सूत्र का परित्याग करके संन्यासी जीवन व्यतीत करते हैं ? इसकी श्रेष्ठता साधना से ही स्वतः प्रमाणित है।

व्यवहार में आजकल वेदान्त साधना का लोप हो गया है। यदि कोई वस्तु पुनः जीवित की जा सकती है अथवा ग्रहण करने योग्य है तो वह केवल वेदान्त साधना है।

किसी भी क्षेत्र में ज्ञान सम्वर्द्धन का माध्यम प्रश्न और उत्तर के रूप में अथवा खोज तथा जिज्ञासा की भावना से अर्जित करने का नियम है। अन्ततोगत्वा इसका अभ्यास एवं प्रभाव उतना हो जावेगा, जितना सम्भव हो सकता है, किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रश्नोत्तरी अथवा अन्वेषण ज्ञान अर्जित करने का साधन नहीं है।

इस कारण उपनिषद वेदान्त द्वारा तर्क से निर्णयात्मक सिद्धि के लिये प्रश्नोत्तरी एवं अन्वेषण का मार्ग अपनाते हैं। इन दोनों क्रियाओं से उत्तरोत्तर निर्णय की सूक्ष्मता एवं सत्यता का बोध होता है।

जहां तक धार्मिक तथा दार्शनिक पहुँच का सम्बन्ध है, अन्वेषण तीन बातों पर आधारित है। प्रथम ईश्वर के विषय में जो धर्म का केन्द्रीय अधिष्ठान है। द्वितीय अपरिवर्तनीय वास्तविकता अर्थात् सत्य एवं तृतीय मनुष्य की आत्मा से सम्बन्धित है, जो नित्य उसमें निवास करता है, जिसे मनुष्य 'मैं' ऐसा उच्चारण करता है। आप प्रथम को धार्मिक प्रश्न में लेते है, द्वितीय को दार्शनिक अन्वेषण तथा तृतीय को आत्मानुसंधान कहते हैं। अन्ततोगत्वा ये सब एक ईश्वर में घटित होते हैं। यदि वह ईश्वर है तो वह निश्चय ही अपरिवर्तनीय है। इसका अर्थ है वह वही है जो दार्शनिक की दृष्टि में परम सत्य है। दोनों ईश्वर तथा सत्य सर्व व्यापक हैं। इस प्रकार दोनों ही मनुष्य में विद्यमान हैं। अस्तु, अपरिवर्तनीय 'मैं' निश्चय ही ईश्वर एवं सत्य स्वरूप होना सिद्ध होता है। अतः मैंने तीनों प्रकार के अन्वेषण का परिणाम एक में ही घटित किया। अस्तु उपनिषदों ने नाना रूपों में एक ईश्वर का ही विवेचन किया और सत्य की एकता का अन्वेषण किया।

यहां तीन प्रकार के अन्वेषणों का उपनिषद् मनीषियों ने परम सत्य की खोज में विवेचन किया है—

कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ?

भगवन् ! क्या जानकर समस्त संसार की जानकारी प्राप्त हो जाती है ?

यह प्रश्न मुण्डकोपनिषद् का है जो प्रश्नोत्तरी के रूप में गृहस्थ शौनक तथा अङ्गिरा ऋषि के मध्य हुआ था।

इसी प्रकार केनोपनिषद् में एक प्रश्न का विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ?

कौन सी शक्ति मन को प्रेरित करती है और वाह्य जगत को उसमें प्रतिविम्बित करती है ?

यदि प्रथम कर्म वाच्य प्रश्नोत्तरी है तो यहाँ यह कर्तृ वाच्य हो गई। अतः प्रश्न कर्ता अपने शरीर के अन्दर आ गया।

कठोपनिषद् की प्रसिद्ध प्रश्नोत्तरी लीजिये जिसमें बालक नचिकेता यम से पूछता है—

क्या शरीर में आत्मा के सदृश कोई वस्तु है, जो मृत्यु के पश्चात् भी रहती है ? यदि है तो उसका स्वभाव क्या है और किस प्रकार वह रहती है ?

यहां पुनः यह कर्तृ वाचक प्रश्न है। अन्त में मुण्डक, केन तथा कठोपनिषद् एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जिस उपनिषद् की भाषा स्वतः विवेचन करती है—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानां,
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः,
तेषाम् शान्तिः शाश्वती: नेतरेषां ॥

श्रुति कहती है, केवल वे लोग बुद्धिमान हैं जो अपने प्रयासों से संसार के अनित्य नानात्व में से अस्तित्व रूप एवं आत्मस्थ उस नित्य वस्तु की खोज करते हैं, क्योंकि नित्य एक है, जो सर्वत्र विद्यमान है और अनित्य वस्तुओं में भी वह व्याप्त है। आप अपने में, अपने शरीर की हृदय गुहा में उस नित्य वस्तु परम सत्य को ढूँढ़ सकते हैं। यदि आप उसे खोजना चाहते हैं और उसके स्वभाव का स्वतः अनुभव करना चाहते हैं तो हम यहां उसके लक्षण का विवेचन करते हैं।

उसका तत्व चेतनता है। इसमें आपको सन्देह नहीं करना चाहिये कि उसका अस्तित्व है अथवा नहीं। क्योंकि क्या आप चेतन नहीं है? क्या आपके शरीर में चैतन्यता नहीं है? क्या इसको आप अपने शरीर में अनुभव नहीं करते, जिससे विचारों की उत्पत्ति होती है और भावुकता का अनुभव होता है? उस सत्य की खोज करो, जो चेतन स्वरूप है। इस प्रकार खोजना सरल होता है। सीधी तथा आसानी से इस अनुसंधान की पूर्ति हो सकती है। और आपको किसी वस्तु के मांगने की अपेक्षा भी नहीं। क्या आप आधार रूप में स्वयं चैतन्य स्वरूप नहीं है? इस कारण आप स्वयं सत्य है। इसीसे श्रुति कहती है—

"तत्वमसि" तुम वह हो।

आपकी बुद्धिमत्ता शक्तिपूर्ण एवं प्रभावी होती है, यदि वह इस परम सत्य का अनुभव करती है। यह सर्वोपरि सत्य वह वस्तु है जो एक ही 'प्रकाश स्वरूप' अनेकों रूपों में प्रतिभासित होता है। यह अकेला है, किन्तु इसके अनेकों स्वरूप हैं। वह जो इस वास्तविक सत्य को अपने शरीर में स्थित अनुभव करता है और 'मैं' ऐसा कहता है, वही केवल धैर्यवान है, अजेय है, मृत्यु उसे स्पर्श नहीं कर सकती। शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का वह अधिकारी होता है। उसेही परमानन्द की प्राप्ति होती है।

अस्तु, चाहे आप दार्शनिक एवं धार्मिक आवश्यकता की भले ही अवहेलना करें, किन्तु इस शान्ति स्वरूप ज्वलन्त आवश्यकता की अवहेलना नहीं कर सकते। यदि इस तथ्य को आप भली भांति जान गये हैं, तो आप उपनिषदिक जीवन को अपनाने से रुक नहीं सकते। उपनिषद् कहते हैं कि वेदान्तिक विचारधारा संस्कृति एवं पूर्ण शान्ति का अनुभव अपने शरीर के बाहर नहीं और न उस ईश्वर का जिसे वैकुण्ठ में माना गया है, किन्तु वह जो आत्मस्थ है, जो था और रहेगा, जहां तक आपके शरीर में उसकी स्थिति पहले से ही मानी गई है, वह ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञाता आसानी से खोजा भी जा सकता है।

अतः वेदान्त जीवन मार्ग की शैली को

प्रस्तुत करता है जो दावे के साथ निश्चय है और विश्वस्तनीय है। इससे जो लाभ प्राप्त हुये हैं, वे व्यवहारिक हैं और प्रयोग सिद्ध हैं।

आत्म-ज्ञान को प्राप्त करने का साधन तीन प्रकार से—

(१) बारम्बार उपनिषदिक सत्य के प्रतिपादन का श्रवण करना—किसी ब्रह्मनिष्ठ द्वारा।

(२) जो श्रवण किया जाता है, उस सत्य का विचार, जिससे सत्य की स्थिति मन में निरन्तर बनी रहे।

(३) स्वात्मानुभव की दिशा में न तो श्रवण की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के विचार की। वास्तव में यह एक ऐसी स्थिति है कि जहां मन में अस्थिरता तथा वाह्याभ्यन्तर क्रियाशीलता का पूर्णरूपेण अभाव होकर परम शान्ति का स्वतः अनुभव होने लगे। यदि आप ऐसा करने में समर्थ हैं, तो आपके शरीर की चैतन्यता स्वतः अनुभवगम्य होगी। इसमें सन्देह नहीं।

सत्य के ज्ञान के अतिरिक्त वेदान्तिक शिक्षण मानव के दैनिक जीवन एवं क्रियाशीलता में सुधार लाता है। और साधक के मन में अपूर्व उत्साह, साहस, धैर्य, सहिष्णुता तथा दृढ़ता उत्पन्न करता है। बुद्धि में विवेक एवं शुद्ध विचार का आचरण स्वभावतः होने लगता है। इन सब बातों के साथ जो बहुत ही उपयोगी एवं लाभदायक हैं, आपका जीवन, उठना-बैठना तथा कार्य करना प्रसन्नता के वातावरण में न केवल आपको वरन् आपके सम्पर्क में आने वाले का भी व्यक्तियों पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार वेदान्त मार्ग का अनुसरण सहज ही मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है।

आरभ्यकर्माणि गुणान्वितानि, भावाश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः, कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥

जो साधक सत्त्वादि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उनको तथा समस्त भावों को परमात्मा में लगा देता है—उसी के समर्पण कर देता है। उसके इस समर्पण से उन कर्मों का अभाव हो जाने पर साधक के पूर्व संचित कर्म समुदाय का भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार कर्मों का नाश हो जाने पर साधक परमात्मा को पा जाता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

एक योग-परक दृष्टिकोण—

चीर-हरण

श्री रामसजीवनसिंह, इलाहाबाद

गीता सा जो ज्ञान दे, हरे सकल भव पीर।
योगिराज श्रीकृष्ण ने, नहीं चुराया चीर ॥
नहीं चुराया चीर ग्वालिनों को नंगा कर।
कहा योग में लगो वस्त्र पाखंड छोड़ कर ॥
षट् विकार से रहित इन्द्रियों को जो जीता।
वह पायेगा मुक्ति यही बतलाती गीता ॥

द्रौपदी को नग्न करने के प्रयास में साड़ी खींचते हुए दुःशासन की भुजायें थक गईं। साड़ी को बढ़ाने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की सभा के बीच उस अबला की लाज रख ली। ऐसे जगदात्मा के प्रति यमुना में स्नान करती हुई बृज बालाओं के चीर-हरण का आरोप सर्वथा मिथ्या कहा जायगा। दृश्य काव्य की भाषा न समझने वाले चाहे जैसा अर्थ लगा लें।

इन्द्रियों से आनन्द रस पान करने वाली अन्तर्मुखी गोपियों का लोक लज्जा रूपी वस्त्र तो उन्होंने अवश्य चुरा लिया था। बृज के बाल, वृद्ध, नर-नारी, पशु, पक्षी सभी उनके दीवाने बन गये थे। सोते-जागते उठते-बैठते उन्हीं का चिन्तन करते थे। गोपी रूपी वेद ऋचाओं के मध्य बृज (ब्रह्मरज) में विहार करने वाले भव प्रत्यय योगी श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण लीला योगमय है। उसे समझना आसान नहीं। उनकी रास लीला योग मार्ग में लगा साधक या योगी ही समझ सकता है। योगिराज श्रीकृष्ण के अनुराग में डूबने पर चित्त की स्थिति ही बदल जाती है। जैसा कि एक कवि ने लिखा है—

या अनुरागी चित्त की, गति समझे नहीं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥

मीरा का जीवन एवं उसका काव्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था—

'मैं हूँ पूरब जनम की गोपी।'

मीरा तथा बृज की ग्वालिनों ने अहरनिशि अपने इष्ट का चिन्तन किया। उनके असली पति श्रीकृष्ण ही थे। उणादि कोष का सूत्र है—

'पातेर्डतिः।'

(उणादिकोष ४/५८)

पाति रक्षतीति पतिः। उक्त सूत्र से पति शब्द सिद्ध होता है। पति माने यहाँ रक्षक के होते हैं। समस्त विश्व का रक्षक तो एकमात्र

परमात्मा ही है। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर की परिभाषा इस प्रकार है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।

(समाधिपाद, सूत्र २४)

अर्थात् क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) कर्म (पुण्य, पाप, पुण्य और पाप मिश्रित तथा पुण्य-पाप से रहित) विपाक (कर्मों का फल) और आशय (कर्म संस्कारों के समुदाय) से जो छुआ तक न गया तथा समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह ईश्वर है।

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से समस्त जीवों का आदि सम्बन्ध है। ईश्वर का इन चारोंसे सम्बन्ध न कभी था न है और न कभी होने वाला है, इस कारण मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर विशेष है। उपाय प्रत्यय योगी उक्त चारों बन्धनों को काटकर मुक्त होता है। योगी (चाहे भव प्रत्यय हो या उपाय प्रत्यय) ईश्वर की भांति सर्व समर्थ होता है। वह भी अपने भक्तों की रक्षा करता है। जगदात्मा श्रीकृष्ण भव प्रत्यय की श्रेणी में आते है। ब्रज की गोपियों की रक्षा का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था। गोपिकायें भी लोक-लज्जा रूपी वस्त्र का परित्याग करके उनकी शरण में आ गई थीं। योगेश्वर की शरणागत होने पर मोक्ष की अधिकारिणी बन गई थीं। आगे अन्य शरीर की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। उनके सारे संस्कारों का भुगतान हो चुका था। योगेश्वर श्रीकृष्ण की चीर-हरण लीला का यही अभिप्राय है। गीता में उन्होंने शरीर को वस्त्र की उपमा दी है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(गीता २/२२)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।

विश्व में जो पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चौरासी लाख योनियां दिखाई पड़ती हैं, यही तो जीव के वस्त्र हैं। कर्माशय के परिणाम-स्वरूप वह इन योनियों में भटकता रहता है, जिस प्रकार बीज से वृक्ष तैयार होता है और फिर वृक्ष से बीज। इसी प्रकार का चक्र कर्माशय का भी जीव के साथ चलता रहता है। आगे श्रीकृष्ण पार्थ को जीवात्मा का स्वरूप बतलाते हैं :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुतः ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय-
मक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु-
रचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम-
विकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं,
नानुशोचितुमर्हसि ॥

(गीता २/२३, २४, २५)

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता । यह आत्मा अच्छेद्य है । यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है । यह नित्य सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है । यह अव्यक्त है, अचिन्त्य है तथा विकार रहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है ।

हिन्दी जगत के कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने रामचरित मानस में गीता के उक्त भाव को व्यक्त किया है । वे जीव की परिभाषा देते हैं :—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

यह चेतन और सहज सुख की राशि ईश्वर का अंश जीव संसार में जन्म लेने से दूषित हो जाता है । वह माया रूपी वस्त्र के आवरण में आ जाता है । जैसा कि गोस्वामी जी स्वयं स्वीकार करते हैं :—

भूमि परत भा डाबर पानी ।
जिमि जीवहिं माया लिपटानी ॥

माया की परिभाषा भी उन्होंने दी—

गो गोचर जहँ लग मन जाई ।
सो सब माया जानेहु भाई ॥

स्वच्छन्द मन और बहिर्मुखी इन्द्रियों की जहाँ तक पहुँच है वह सब माया है । उन्हें यह भी लिखना पड़ा :—

सनमुख होय जीव मोहिं जबहीं ।
कोटि जन्म अघ नासौं तबहीं ॥

भव प्रलय योगी राम के मुख से कहला दिया, "जब सारी लोक लज्जा मोह माया आदि का परित्याग कर जीव मेरी शरण में में आ जाता है, तो मैं उसके करोड़ों जन्मों के पापों को नष्ट कर देता हूँ ।" नास्तिक ईश्वर की सर्व व्यापकता को न मानने के कारण पाप करता है । सर्व समर्थ सिद्धयोगी से कुछ भी छिपा नहीं रहता । आवरण के अन्दर भी वह सब कुछ देखता और समझता है । जड़ चेतन की गाँठ खुलने पर जीव का ब्रह्म के सम्मुख होना ही ईश्वर को वास्तविक चीर-हरण की लीला है । शरीर रूपी वस्त्र को वह सदा के लिए हरण कर लेता है ।

भला संसार में कौन ऐसा जीव है जो चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ नाना प्रकार के शरीर धारण कर कर्मों के परिणाम-स्वरूप कष्ट भोगना चाहता है। जन्म लेने में तथा मरने में अपार कष्ट होता है, जैसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में संकेत किया है—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" आवागमन से त्राण तभी मिल सकता है, जब जीव मानव शरीर धारण करने पर योग साधना में लग जाय। लापरवाही करने पर मानव शरीर रूपी वस्त्र की जीर्णावस्था में वह अधोगति को प्राप्त होता है। कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि शरीर रूपी वस्त्रों को बारम्बार धारण करता है। फिर मानव शरीर का पाना तो उसके लिए दुर्लभ हो ही जाता है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है :—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत राम बिनु हेतु सनेही॥

चीर हरण लीला की आवश्यकता हर जीव को है। इस लीला का अधिकारी मानव उपासना के माध्यम से बनता है। ईश्वर की उपासना योग मार्ग से ही सम्भव है। सिद्ध योगी की शरण में अपने को समर्पित कर उनके मार्ग दर्शन में साधनारत होने पर लक्ष्य की प्राप्ति का सरलतम मार्ग सुलभ हो जाता है। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने स्वीकार किया है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

(योगदर्शन १/३)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर द्रष्टा की अपने रूपमें स्थिति हो जाती है। स्वरूप में स्थित होने पर ही साधक चीर हरण लीला का अधिकारी बनता है। जन्म-मरण के बन्धन से वह छूट जाता है। मेरे दादा गुरु सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल जी ने तो न जाने कितने अपने बच्चों के साथ इस प्रकार की चीर हरण लीला कर उन्हें मोक्ष प्रदान किया। ऐसी अनेक घटनायें होती रहती है, जिनका उल्लेख समय-समय पर "सिद्धयोग" में भी किया जाता है। इस कलि काल में सद्गुरु की तलाश में न जाने कितने नर नारी भटक रहे हैं। करोड़ों जन्म के पुण्य उदय होने पर ऐसे सद्गुरुदेव की शरण मिल पाती है। मेरे सद्-गुरुदेव योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के मार्ग दर्शन में योगाभ्यास करने वाला मानव जीवन को सफल बना लेता है। कहावत है— 'समय चूकि पुनि का पछतावे।' अतः मनुष्य शरीर पाने पर लापरवाही न कर मोक्ष की कुञ्जी योग मार्ग में लग ही जाना चाहिए। इसीलिए कहता हूँ—

मायः रूपी वस्त्र को, पहन नाचता जीव।
जड़-चेतन की गांठ में, फँसी रहत है जीव॥
फँसी रहत है जीव सदा कर्माशय बनता।
लख चौरासी योनि मार्ग में आकर पड़ता॥
योग साधना का अनुपम फल मानव काया।
करे सही उपयोग छोड़ती उसको माया॥

—❀ ✻ ❀—

卐 सन्त मत में साधना

❀ श्री सम्पूर्णानन्द जी

[प्रस्तुत लेख हमारे देश के प्रख्यात विद्वान, राजस्थान के भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व गृहमन्त्री समाजवाद के प्रबल समर्थक, राष्ट्रीय जीवन के प्राण, परखे हुए देशभक्त स्वर्गीय बाबू सम्पूर्णानन्द जी द्वारा सन् १९४० ई० में लिखकर प्रकाशित कराया गया था। विद्वान लेखक ने अपने लेख में यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि सन्त मत में जिस साधना को भक्ति-परक कहा जाता है वह योग सिद्धान्तों के प्रतिपादन का ही एक रूप है। और प्रकारन्तर से सभी सन्तों ने योग-मार्ग को ही श्रेष्ठ बताकर उस पर चलने का परामर्श दिया है।

बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने अपने इस विवेचनापूर्ण लेख में महाप्रभु रामलाल जी के कथन का एक काव्यमय उदाहरण देते हुए उन्हें अपना 'दादा गुरु' बताया है। 'सिद्धयोग' के पाठक विशेष रूप से वे साधक जो सिद्धगुफा आश्रम सवांई से सम्बन्धित है यह जानकर प्रसन्न होंगे कि महाप्रभुजी की योग-दीक्षा परम्परा में कितने उच्चकोटि के विद्वान होते रहे हैं।

—सं० सम्पादक]

भारत के धार्मिक जगत् के इतिहास में संतमत का एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि बल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय है। वह एक धारा है जो आज से लगभग पांच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। सबसे पहले उसके संबंध में कबीर साहब का नाम उल्लेख्य है। फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि ने अपने-अपने समय में इस धाराको पुष्ट किया। बहुत से अंग्रेजों की और उनकी भांति सोचने वाले कुछ भारतीय विद्वानों की यह राय है कि संतमत एक संग्रहात्मक (Eclectic) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिन्दू-धर्म और कुछ बातें इस्लाम से लेकर मिला दी गई है। वे लोग संतों को सुधारकमात्र मानते है। उनका ख्याल है कि हिन्दू-मुसलमानोंके आपसी झगड़ों को और दोनों में प्रचलित कुरीतियों को देख कर कुछ दयालु ईश्वर-भक्तों ने समाज के कल्याण के लिए एक सरल मार्ग निकाला, जिस पर दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वर की भक्ति का उपदेश किया। छुआछूत और जाति-पांति की निंदा की, भूत-प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध किया, औलिया कब्र की वन्दना से लोगों को रोका। सदाचार की महिमा बतलाई, हिन्दू-मुसलमान को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ जन्मना हिन्दू भी नहीं थे। संस्कृत तो

इनमें से शायद ही कोई जानता था, इसलिए इन्होंने अपने उपदेश हिन्दी में दिये। इस कारण पण्डित वर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनता में खूब प्रचार हुआ।

ये बातें कुछ हद तक सत्य हैं। सन्तों ने निःसन्देह एक ईश्वर की निष्ठा सिखाई, कुरीतियों का निषेध किया, भेद-बुद्धि का खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज-सुधारक थे। वे सन्त थे और सन्तों के उपदेशों में ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं।

भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना ने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं का राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गई, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कला के लिये स्फूर्ति का द्वार बन्द हो गया। मौलिक रचनाओं की जगह टीका-ग्रन्थों ने ली, जीवित काव्यों के स्थान में परतन्त्र रजवाड़ों के दरबारों में पलने वाली अधम कोटि की श्रृंगारी तुकबन्दी की थैली फट पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्था में पड़ जाय, उसकी अधोगति का रुकना कठिन होता है, उसका तो शतमुख विनिपात अवश्य-भावी हो जाता है। पर अभी हिन्दू जाति के दिन अच्छे थे, उसकी आत्मा की अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमें से दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरों को फिर से प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियों को अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्ति मार्ग की थी। इस मार्ग को तुलसी, सूर, मीरा आदि ने प्रशस्त किया। दुर्बलों से कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान् है। यहां तुम्हारी कोई न सुने, पर वह तो सदा तुम्हारे पास है, तुम्हारे दुःख-सुख का साक्षी है, तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्ति पर रीझकर तुम्हारे लिये सब कुछ करता और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजों के, राम और कृष्ण के, गौरव की स्मृति दिलाई गई, वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा रखते हुये ऊँच-नीच सभी के सामने भक्ति का थाल परसा गया। उपदेश की भाषा हिन्दी थी, इसलिये सबने ही इस रस का आस्वादन किया। कुछ मुसलमान-कुल में उत्पन्न व्यक्तियों तक पर इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुखिया हिन्दू जाति मरते-मरते बच गई। मैं इस विषय पर विस्तार से यहां नहीं लिख सकता, पर इतिहास ने ऐसा कई बार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियों में भक्ति-सम्प्रदाय और भक्ति-साहित्य का उदय हुआ है। जितना भक्ति-साहित्य हमारे देश में पिछले चार-पांच सौ वर्षों में निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आर्यों के, जो सभ्य जगत् के गुरु और विशाल साम्राज्यों के स्वामी थे, मुँह से यह गाना कम ही निकल

सकता था—'निर्बल के बल राम।' जो स्वयं बली था, वह उपासना-काल में भी अपने को भूल नहीं सकता था। इसका प्रमाण उन ओजस्वी मन्त्रों में मिलता है, जिनमें वैदिक आर्य इन्द्रादि से बल या विजय का वरदान माँगते हैं। जहां भक्तिकालीन हिन्दू रोता-गिड़गिड़ाता है, वहां वैदिक आर्य इस प्रकार बात करता है जैसे कोई अपने हक को मांग रहा हो और लेकर छोड़ने की सामर्थ्य रखता हो।

जाति की आत्मा से जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम सन्त मत है। इस आकाश के कुछ नक्षत्रों के नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही लोग सन्त कहलाते हैं। इन्होंने सगुण साकार की उपासना के स्थान में निर्गुण उपासना, योग और ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। यों तो भक्ति-मार्ग में भी ऊँच-नीच का भेद नहीं होना चाहिये, फिर भी उसमें जिन साधनों का प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि—वह बहुतों को अप्राप्य है। तुलसीदास जी ने कलियुग के लक्षणों का वर्णन करते हुए शूद्रों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन बड़े आचार्यों के भाव क्या थे। पर योगाभ्यास के लिये तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिये। पूजा की सामग्री के लिये पैसे नहीं चाहिये। इसलिये यह मार्ग सचमुच सबके लिये सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लगी की चीज न होगी। इसलिये इधर की ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहा, मोची जन्म के मुसलमान भी आये, ऊँची जाति वाले भी आये।

इस मार्ग में एक और विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल चुपचाप सांस लेने में नहीं है। उसका लक्षण है जागृति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मैं अपने को किसी प्रकार बचा लूँ, वह आक्रमणकारी पर आगे बढ़कर आक्रमण करता है। भक्ति-मार्ग ने मुमूर्षु हिन्दू जाति में जान डाली, सन्त मत ने सक्रियता प्रदान की। केवल अपने कोने में पड़े रहने के बदले मुसलमानों के दोषों का खुलकर निदर्शन होने लगा। योगी में बल होता है, आत्म-विश्वास होता। उसकी वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनता में भी आत्म-निर्भरता आयी। उसी आत्मनिर्भरता की एक कली सिक्ख-सङ्गठन और महाराजा रणजीतसिंह के राज्य के रूप में खिली।

इन बातों के साथ ही दो और बातों को भूल न जाना चाहिये। सन्त मत और भक्ति-मार्ग कोई नये आविष्कार न थे। दोनों की परम्परा बहुत ही प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दोनों के बीच कोई ऐसी ऊँची

दीवार न थी, जो एक मार्ग को दूसरे मार्ग से बिलकुल पृथक् कर दे। पतञ्जलि ने 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' सूत्र में ईश्वर चिन्तन को भी योग का एक मार्ग माना है। जो योगाभ्यास के मार्ग पर आरूढ़ होगा उसमें भी उन श्रद्धादि गुणों का होना आवश्यक है, जो भक्ति के लक्षण हैं, भक्त को जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी वैसे ही अनुभव होंगे, जैसे कि योगी को होते हैं। इस बात का प्रमाण हमको अपने यहां के आध्यात्मिक साहित्य में पूरा-पूरा मिलता है। एक ओर तो संत मत के आचार्यों की रचनाओं में भक्ति-भाव से ओत-प्रोत वाक्य मिलते हैं, दूसरी ओर भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तकों के ग्रन्थों में योग के अनुभव की झलक आती है। उदाहरण के लिये नीचे दो अवतरण देता हूं।

पहला कबीर साहब के प्रधान शिष्य धर्मदास जी की रचना है—

दरसन दीजे नाम सनेही।
तुम बिन दुख पावे मेरी देही॥
दुखित तुम बिन रटत निसदिन।
प्रगट दरसन दीजिये॥
बिनति सुन, प्रिय स्वामियां!
बल जाउँ बिलंब न कीजिये॥
अन्न न भावे, नींद न आवे।
बार-बार मोहि बिरह सतावे॥
बिबिध बिधि हम भई व्याकुल।
बिन देखे जिव ना रहे॥
तपत तन, जिव उठत ज्वाला।
कठिन दुख अब को सहे॥
नैनन चलत सजल जलधारा।
निस दिन पंथ निहारु तुम्हारा॥
—इत्यादि

दूसरा सूरसागर से लिया गया है—

अपुनपौ आपुनही में पायो।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेदबतायो।
सूरदास समुझेको यहगति मनहीं मन मुसकायो।
कहि न जाय या सुखकी महिमा ज्यों गूंगेगुड़खायो

भक्तिमार्ग संतमत से पहले चल चुका था। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतों पर भी पड़ा था। उन्होंने भी ईश्वर के लिए विष्णु के पर्याय हरि, माधव, गोपाल, राम आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसका एक कारण यह भी था कि कबीर साहब ने जो आदि संत कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानन्द जी से पहले-पहले दीक्षा प्राप्त की थी।

जहां तक आध्यात्मिक सिद्धान्त की बात है, संत लोग प्रायः शांकर अद्वैतमत को मानते थे। प्रायः मैंने इसलिए कहा है कि किसी-किसी ने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टाद्वैत मत का भी प्रतिपादन किया है। द्वैतवादी इनमें से कोई भी न था। इस लेख में संतों के दार्शनिक विचारों की विवेचना करना अप्रासंगिक होगा, क्योंकि इसका मूल विषय साधना है, फिर भी

उदाहरण के लिए मैं कुछ अवतरण देता हूँ। सुन्दरदास जी कहते है—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन,
निल निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखण्डित है अध ऊरध,
बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूक्ष्म स्थूल जहां लगि,
ब्रह्महि साहब, ब्रह्महि दासै।
सुन्दर और कछू मत जानहु,
ब्रह्महि देखत ब्रह्म समासै॥

एक जगह पलटूदास जी कहते है—

कोटिन जुग परलै भइ, हमहीं सिरजनहार।
हमहीं सिरजनहार, हमहि करता के करता,
जेकर करता नाम, आदि में हमही रहता॥

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषद् में "अहं मनुरभव सूर्यश्च" इत्यादि से व्यक्त किया गया है।

दादूदयाल जी कहते हैं—

तन मन नाहीं, मैं नहीं, नहिं माया, नहिं जीव,
दादू एकै देखिए, दह दिस मेरा पीव।

जीवन्मुक्त के वर्णन अनेक स्थलों पर आये है। दृष्टान्त के रूप में मैं उनमें से दो को उद्धृत करता हूँ। पहले चरणदासजी कहते हैं—

जब हो एक दूसरा नासै।
बन्ध मुक्ति की रहै न साँसै॥
मृतक अवस्था जीवत आवै।
करम रहित अविचर गति पावै॥
जब कोइ मित्तर, बैरी नाहीं।
पाप पुण्य की परै न छाँहीं॥
ग्यान दसा ऐसी करि गाई।
चरनदास सुकदेव बताई॥

दूसरे में कबीरदास यों कहते है—

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै,
नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै,
जब उपदेश दृढ़ावै॥
प्रान पूज्य किरिया ते न्यारा,
सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूँधै, पवन न रोकै,
नहिं अनहद अरुझावै॥
यह मन जाय जहां लग,
जबहीं परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै,
जो ऐसी जुगत लखावै॥
सदा बिलास त्रास नहिं मन में,
भोग में जोग जगावै।
—इत्यादि

एकाध को छोड़कर सन्तों ने लिखित रूप से पुस्तकें नहीं लिखी हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनायें मिलती हैं, जिनको समय-समय पर उनके शिष्यों ने लिख लिया था। इनमें से जो गाने लायक हैं उनको 'शब्द' तथा शेष को—जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दों में हैं—'साखी' कहते हैं।

अब मैं इस लेख के मूल विषय 'साधना' की ओर आता हूं। इतना तो पहले भी संकेत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यास को मोक्ष का साधन प्रतिपादित करते हैं। पतंजलि के अनुसार "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है। दूसरे शब्दों में योग में सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्य का उपदेश देने वाले पद संतों की वाणी में भरे पड़े हैं। मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्व करे हो अन्तहि,
खाक में मिलि जायगा।
दिना चारि कौ रंग कुसुम है,
मैं मैं करि दिन जायगा॥
बालुक मंदिल ढहत बार नहि,
फिर पाछे पछितायगा।
रचि रचि मंदिल कनक बनायो,
ता पर कियो है अवासा॥
घर में चोर रैन दिन मूसहि,
कहहु कहां है वासा।
पहिरि पटम्बर भयो लाड़िला,
बन्यो छैल मदमाता॥
गैबी चक्र फिरै सिर उपर,
छिन में करै निपाता।
नेकु धीर नहि धरै बावरे,
ठौर-ठौर चित जाते॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम व्रत,
फोकट को रँग राते।
कासे कहूँ, काहू संग न साथी,
खलक सर्व हैराना॥
कहैं गुलाल संत पुरवासी,
जम जीतो है दिवाना॥

वैराग्य वृत्ति को दृढ़ रखने में सत्संग से बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के चरणदास जी की एक साखी को उद्धृत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हों, सतसंगति घड़ी एक।
तौ भी सरबरि ना करै सुकदेव किया विवेक॥

बिना एक अच्छे गुरु की सहायता के योगाभ्यास करना और उसमें सफलता करना यदि सम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है, बहुत सी ऐसी भूलें हैं जिनको वही दूर कर सकता है। कभी-कभी तो गलती कर देने से योगाभ्यास से शरीर और मस्तिष्क के लिए भयावह परिणाम खड़े हो सकते हैं। उपनिषद् का उपदेश है—"स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" दुःख की बात यह है कि आजकल 'गुरु' शब्द तो चारों ओर मारा-मारा फिरता है; परन्तु इस बातकी छानबीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं वे ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्य से सद्गुरु मिल जायें तो फिर यह पुराना वाक्य सर्वथा सार्थक होता है—

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा
देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः,
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥**

संतों ने सद्गुरु-महिमा में सचमुच कलम तोड़ दी है। यहां पर तो केवल थोड़े से ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

बिन सद्गुरु कोउ भेद न पावा ।
धरती से आकाश लौं धावा ॥
(बजहन)

दादू काढ़ें काल मुख, अंधे लोचन देइ ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ ॥
(दादू)

गुरु चरनन पर तन मन वारूँ ।
गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ ॥
(सहजोबाई)

सतगुरु आदि अनादि है,
सतगुरु मध अरु मूल ।
सतगुरु कूँ सिजदा करूँ,
एक पलक नहिं भूल ॥
(गरीबदास)

सतगुरु मारा बान भरि,
डोला नाहिं शरीर ।
कहु चुम्बक क्या कर सकै,
मुख लागे वोहि तीर ॥
सतगुरु मारा तानकर,
शब्द सुरङ्गी बान ।
मेरा मारा फिर जिये,
तो हाथ न गहूँ कमान ॥
(कबीर)

ऐसा सद्गुरु धन इत्यादि का भूखा नहीं होता । वह जिसको अधिकारी समझेगा, उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा । जो शिष्य बनने का हौसला रखता हो, उसमें अटल श्रद्धा और अथाह धीरता होनी चाहिये। उसको पलटू साहब यह परामर्श देते हैं—

पड़ा रहे संत के द्वारे, धका धनी का खाय ।
कबहूँ तो धनी निवजिहैं, काजसहज होइ जाय ॥

पतञ्जलि ने योग को अष्टाङ्ग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण षडङ्ग भी कहते हैं कि यम और नियम केवल योगी ही नहीं वरन् मनुष्यमात्र के लिये उपयोगी हैं। संतों ने विशेष रूप से योग की कोई पोथी तो लिखी नहीं है, इसलिये षडङ्ग-अष्टाङ्ग का शास्त्रीय विवेचन भी उन्होंने नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियम में परिगणित हैं, इन पर उन्होंने बहुत जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कबीर की कुछ साखियां देता हूँ—

जूआ, चोरी, मसखरी, ब्याज, घूस, पर नार ।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार ॥
कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय ।
भक्ति करै कोई सूरमा, जाति, बरन कुल खोय॥
गोधन, गजधन, बाजधन और रतन धन खान ।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥

मरि जाऊँ, मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने मोहि न आवे लाज ॥
सांचे स्राप न लागही, सांचे काल न खाय।
सांचा को सांचा मिलै, सांचे माहि समाय ॥
गुरु पसु नर पसु नारि पसु, बेद पसु संसार।
मानुष सोई जानिऐ, जाहि विवेक बिचार ॥
निंदक नियरे राखिऐ, आंगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, साबुन बिना, निरमल करै सुभाय ॥

योगाभ्यास की कई रीतियां प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने के अन्तर्मुख साधन के सम्बन्ध में है। श्रुति में भी इस प्रकार की कई रीतियां भिन्न-भिन्न विद्याओं के नाम से परिगणित हैं। प्रायः सभी सन्तोंने जिस प्रक्रिया का मुख्यतः उपदेश किया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु सन्तकाल के पहले इसका स्यात् इतने विस्तार से अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, 'स्रोत' शब्द का अपभ्रंश है। दर्शन ग्रंथों में स्रोत का अर्थ है 'चित्तवृत्ति-प्रवाह', अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्द की धारणा की जाती है अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय किया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मन्त्र से तात्पर्य नहीं है। शरीरके भीतर और शरीर के बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकार का आघात किये हुए उत्पन्न हो कहते हैं। सन्तों ने इसे अनहद कहा है। गुरूपदिष्ट मार्ग से अभ्यास करने से इस ध्वनि की डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असंप्रज्ञात समाधि पद में सहज ही लीन हो जाती है। नादबिन्दूपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो,
ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा,
मेघापायेंऽशुमानिव ॥२०
यत्र कुत्रापि वा नादे,
लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा,
तेन सार्धं विलीयते ॥३८
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य,
सर्वचेष्टा विवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे,
चित्तं विलीयते ॥४१
नियामन समर्थोऽयं,
निनादो निशितांकुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्ग-
बन्धने वागुरायते ॥४५

इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद् में भी बतलाया है—

अनाहतं तु यच्छब्दं,
तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स,
योगी छिन्नसंशयः ।। ३

शिवसंहिता आदि ग्रन्थों में भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्तवृत्ति के उपशम का वर्णन आया है।

इसी ध्वनि का आश्रय लेकर योगी को अन्तर में आदि ध्वनि अर्थात् प्रणव का अनुभव होता है। पतञ्जलि जी कहते हैं कि प्रणव अर्थात् ॐकार ईश्वर का वाचक है। ॐकार के अकार, उकार, मकार— इस प्रकार टुकड़े करके अनेक प्रकार से अर्थ किये गये हैं। योगी की दृष्टि में ॐकार आदि शब्द अर्थात् पञ्चभौतिक जगत् का आदिम रूप, शब्द-तन्मात्रा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार, इसलिए पाञ्चभौतिक जगत् में ईश्वर की पहली अभिव्यक्ति है। इसीलिए यह उसका वाचक या पवित्रतम नाम कहा जाता है। श्रुति में प्रणव की अनेक प्रशस्तियां हैं। यथा —

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।१५

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म,
ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा,
यो यदिच्छति तस्य तत् ।।१६

(कठोपनिषद् द्वितीय वल्ली)

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में ॐकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामों से पुकारा गया है उसी प्रकार संतों ने इसे प्रायः नाम या सतनाम (सत्यनाम) कहकर पुकारा है। सत्यनाम की अपार महिमा का उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नाद के परे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्ध में कुछ अवतरण देता हूँ—

ओरेमकार पानी अरु पवन,
सूर्य, चन्द्र, शनि, महि, भवन ।
ओरेमकार पूजा अरु मान,
ओरेमकार जप संजम ध्यान ।।
ओरेमकार तप तीरथ दान,
ओरेमकार राखे सुर ग्यान ।
ओरेमकार गुरु अरु चेला,
ओरेमकार रहु रासी मेला ।।
ओरेमकार निरन्तर बानी,
जिन जानी तिन गुरुमुख जानी ।

(नानक)

सत्तनाम निज सार है, अमर लोक को जाय,
कह दरिया सतगुरु मिलें संसय सकल मिटाय ।

(दरिया)

मूलमंत्र निज नाम है, सुरत सिन्धु के तीर,
गैबी बानी अरस में सुर नर धरैं न धीर।
(गरीब)

ता पर अकह लोक है भाई,
पुरुष अनामी तहां रहाई।
जो पहुँचे जानेंगे वही,
कहन सुनन से न्यारा है॥
(कबीर)

संतों ने सुरत शब्द-योग को ही निदिध्यासन की प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसी को 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगी को जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में अति संक्षेप में इस प्रकार हुआ है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

इसी विषय का नाद बिन्दु आदि उपनिषदों में किञ्चित् अधिक विस्तार से वर्णन है। योग-दर्शन के विभूति पाद में 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा कुछ और विस्तार किया है। तन्त्र-ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं अच्छा वर्णन आया है।

सन्तों ने भी इस अनुभव का वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत-ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में इससे ललित भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। योगी को अभ्यास के प्रसाद से चतुर्दश भुवन में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती, वह अणिमादि सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। यह असम्भव है कि जो अनुभव स्वसंवेद्य है, जो पद 'नेति नेतीति वाच्यम्' है, जहां मन और वाणी की पहुँच नहीं उसका वर्णन शब्दों में किया जा सके। हां, नीचे की कुछ बातें बतलाई जा सकती हैं—वे भी संकेतों द्वारा। इस वर्णन का भी रस उसी को मिल सकता है, जिसकी इस मार्ग में कुछ गति हो। दूसरा इतना ही अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकार की विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी। मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्ध के भी देता हूं। इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। इनमें से सभी योग-विषयक संस्कृत ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

अनहद तालदंग थेई थेई बाजे।
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजै॥
ब्रह्मा बिस्नु खड़े सिव द्वारे।
परम ज्योति सों करैं जुहारे॥
गगन मण्डल में निरतन होय।
सतगुरु मिलैं तो देखैं सोय॥

आठ पहर जन बुल्ला गाजै।
भक्ति-भाव माथे पर छाजै॥
(बुल्ला साहब)

उलट देखो घट में ज्योति पसार।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै,
बिगसि कमल कचनार॥
पैठि पताल सूर ससि बांधै,
साधै त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुन के वारपार बिच,
भरतु है अमिय करार॥
इङ्गला पिंगला सुखमन सोधौ,
बहत सिखर मुख धार।
सुरत निरत लै बैठु गगन पर,
सहज उठै झनकार॥
सोहं डोरि मूल गहि बांधो,
मानिक भरल लिलार।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो,
भरो है मुक्ति भण्डार॥
(गुलाल साहब)

निर्बान निर्गुन नाम है,
जप लाग अनहद तान की।
विमल ग्यान बिराग उपजै,
धँसत धारा ध्यान की॥
ध्यान धरकै सिखर देखो,
जिकर ररंकार की।
जपत अजपा गगन देखो,
लखो एक मस्यालची॥

दहिने घण्टा संख बाजै,
बाएँ किंगरी सारँगी।
मधुर मुरली मध्य बाजै,
ज्योति एक बिराजती॥
यही है एक कथा निर्गुन,
दूसरी नहीं जानते।
जगजिवन प्रानहि सोधिकै,
छुटि जात आवागमन ते॥
(जगजीवन साहब)

बाबा बिकट पन्थ रे जोगी,
ताते छोड़ सकलरस भोगी।
परथम सिद्धि गनेस मनाओ,
मूल कमल की मुद्रा।
किलियम् जाप जपौ हरि हीरा,
मिटै करम सब छुद्रा॥
करम बाय पर सेस बाय है,
तासु होत उदगारम्।
दोऊ जीत जनम जुग जोगी,
आवत खेल अपारम्॥
नाभि कमल में नाद समोओ,
नागिन निद्रा मारो।
दो फुंकार संखिनी जीतौ,
उरधै नाम बिचारो॥
हिरदै कमल सुरत का संजम,
निरत कला निर स्वांसा।
सोहं सिध्र सैल पद कीजै,
ऐसे चढ़ो अकासा॥

कण्ठ कमल से हरहर बोलै,
षोडस कला उगानी ।
यह तो मद्य मारग सतगुरुका,
पन्थ बूझ ब्रह्म ग्यानी ॥
त्रिकुटी मद्धे सूरत दरसं,
दो दल दरपन माहीं ।
कोट जतन कर देखा भाई,
बाहर भीतर नाहीं ॥
वह तो सिन्ध दोउ से न्यारा,
कहो कहां ठहराए ।
सब्र बेसुध मिलै नहीं भौंरा,
कहां रहत घर पाए ॥
अनहद नाद बजाओ जोगी,
बिना चरन चल नगरी ।
काया कासी छांड़ि चलोगे,
जाय बसो मन मथुरी ॥
धरती धूत अंकार न पाऊँ,
मेरुदण्ड पर मेला ।
गगन मंडल में आसन करहूँ तो
सतगुरु का चेला ॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा,
तिस घाटी ले जाऊँ ।
चींटी के पग हस्ती बांधूँ,
अधर धार ठहराऊँ ॥
दखिन देस में दीपक जोड़ूँ,
उत्तर ध्रुव धियाना ।
पछिम देश में देवल हमरा,
पूरब पन्थ पयाना ॥

पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा,
अगम ग्यान गोहराऊँ ।
दास गरीब अगम गति आवै
सिन्धै सिन्ध मिलाऊँ ॥
(गरीबदास)

आगासी सर भजिया नीर,
ता महँ कवँल बहुत बिस्थीर ।
भौंरा लोभधा तांकी गन्ध,
नानक बोलै बिषमी सन्ध ॥
बाहर सोलह सम करि गहै,
आसणु सहजि निरालगु बहै ।
चेतशी डोरी गुडि लावै,
नानक कहै जोग इउँ पावै ॥
मेरुदंड सूधा करि राखै,
गुरुप्रसाद अम्रितु रस चाखै ।
दोने शराह इकठी धरै,
नानक बोलै जीवत मरै ॥
उलटै पौण उलटै काया,
शबिद अनाहद शब्द बजाया ।
धुनि अन्तर मनु राखै धीरु,
नानक बोलै अउलि फकीरु ॥
(नानक साहब)

गगन के बीच में ऐन मैदान है,
ऐन मैदान के बीच गल्ली ।
सहसदल कँमल में भँवर गुञ्जार है,
कँवल के बीचमें सेत कल्ली ॥
इड़ा औ पिंगला सुखमना घाट है,
सुखमना घाट में लगी नल्ली ।

सुखसागर भरा सत्त के नामसे,
तेहि के बीच में सुरति हल्ली ॥
जहँ एक वृक्ष है तेहिके डारिमें,
पड़ा हिंडोलना प्रेम भुल्ली ।
अमीरस चुवै सोइ पियत एक नागिनी,
नागिनी मारि कै बुन्द रल्ली ॥
बंधके नाल पर तहां एक ऊँच है,
तेहूँकि सीस चढ़ि जाति बल्ली ।
जोति के बीच में तहां एक राह है,
राह के बीच में नाद चल्ली ॥
नाद के बीच में तहां एक रूप है,
रूप को देखि के रह तसल्ली ।
दासपलटू कहै होय आरूढ़ जब,
संत को सहज समाधि भल्ली ॥
(पलटू साहब)

महरम होय सो जानै साधो,
ऐसा देश हमारा ॥
वेद कतेब पार नहिं पावत,
कहन सुनन सो न्यारा ।
जाति बरन कुल किरिया,
नाहीं संध्या नेम अचारा ॥
बिन जल बूंद परत जहँ भारी,
नहिं मीठा नहिं खार ।
सुन्न महल में नौबत बाजै,
किंगरी बीन सितारा ॥
बिन बादर जहँ बिजली चमकै,
बिन सूरज उजियारा ।
बिना नैन जहं मोती पोहै,
बिनु सुर सब्द उचारा ॥
जो चलि जाय ब्रह्म तहँ दरसै,
आगे अगम अपारा ।
कहँ कबीर वहँ रहनि हमारी,
बूझै गुरमुख न्यारा ॥
(कबीर साहब)

अन्त में मैं दो शब्द अपने दादा-गुरु बाबा रामलाल जी के देना चाहता हूँ—

(१) झरै फुलझरी बरै मसाला ।
दरसै अमृत ज्योति रसाला ॥
दसहुँ दिसा महँ दामिनि दमकै ।
दहिनें बाम रवि चन्दा चमकै ॥
हरित चक्र त्रिकुटी रह छाई ।
फनिपति रूप अजब दरसाई ॥
स्याम स्वरूप निरंजन झलकै ।
दीप शिखा सम माया दमकै ॥
त्रिगुन त्रिदेव बहुत दरसाहीं ।
रंग अरंग बरनि नहिं जाहीं ॥
कोटि कोटि ब्रह्माण्ड तमासा ।
रामलाल चढ़ि लखत अकासा ॥

(२) मूल मन्त्र करि बंध बिचारी ।
षट चक्रहि नव सोधहि नारी ॥
सोधिके मेरुदण्ड ठहराना ।
सहज मिलावै प्रान अपाना ॥
बंक नाल गहै मन मूला ।
बिहँसत अष्टकमल दल फूला ॥
पच्छिम दीसा लागि किवारी ।
सतकुञ्जी सन लेइ उघारी ॥
जस मकरीका लागा तागा ।
वैसेहि प्रेम बढ़ै अनुरागा ॥

उलटा पवन चढ़े जस मीना ।
है सतगुरु का मारग झीना ॥
अजपा जाप जिकिर धुनि ध्याना ।
संधि सब्द महँ पवन समाना ॥
आदी सब्द अहै ॐकारा ।
उठे सब्द धुनि ररंकारा ॥
दसो दिसा होइगे उँजियारा ।
झलकत जगमग जोति अपारा ॥
गैबि मिले जब गैब समाना ।
हूं अलमस्त अमीरस पाना ॥
कालदण्ड नाहीं जम त्रासा ।
देखत गैबी गैब तमासा ॥
जो अस चलै सून्य मिल जाई ।
ता कर आवागमन नसाई ॥
रामलाल कोउ बिरला पावा ।
निरधन धनी निसान नचावा ॥

मैं समझता हूं कि इतने अवतरण पर्याप्त हैं। जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इनका और इनके जैसे दूसरे पदों का रस्वादन वही कर सकता है, जो इस मार्ग पर चल रहा है। जो मनुष्य अपने अनुभव के कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओं के वचनों को प्रमाण मानने के कारण, जिनका उसको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ हो, योग को मोक्ष का उत्कृष्टतम् साधन मानता है वह प्रकृत्या सन्तबानी की ओर आकृष्ट होगा, और मेरा ऐसा विश्वास है कि उसका इसमें परम कल्याण होगा। आजकल ऐसा कहने का दस्तूर-सा चल पड़ा है कि इस युग में योगाभ्यास नहीं किया जा सकता, और मुमुक्षुओं से दूसरे साधनों के नाम लिये जाते हैं, जो योग की अपेक्षा अधिक सुलभ और सुकर हैं। योग कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।'

जिस चित्त का निग्रह गीता के शब्दों में वायु के बांधने के समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियों का निरोध सहज नहीं हो सकता। निरन्तर सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है। पदे-पदे पतन की सम्भावना है। कबीर ने योगी के इस मानस रणक्षेत्र का इन शब्दों में अच्छा वर्णन किया है—

साध संग्राम है, बिकट बेड़ा जती,
सती और सूर की चाल आगे।
सती घमसान है पलक दो चार का,
सूर घमसान पल एक लागे ॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना,
देह पर्यंतका काम भाई ।
कहत कब्बीर टुक बाग ढीली करै,
उलट मन गगन से जमी आई ॥

इसलिए कोमल बुद्धि लोगों का, जो दोनों हाथ चांदी चाहते हैं, चित्त इस मार्ग से घबराता होगा। परन्तु किया क्या जाय ? दूसरा वास्तविक मार्ग है भी नहीं। आज से दो हजार वर्ष पहले की बात है। एक मिस्री राजकुमार

रेखागणित पढ़ रहा था। उसने घबराकर अपने अध्यापक से पूछा—'क्या इन तथ्यों के सीखने का कोई सरल उपाय नहीं है ?' उत्तर मिला—'नहीं, नरेशों के लिये रेखागणित सीखने का कोई अलग मार्ग नहीं है।' उसी प्रकार मुमुक्षुओं के लिये भी कोई सरल मार्ग नहीं है। हां, अधिकारीभेद से अनेक प्रकार की यज्ञ, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियां हैं, जिनसे सत्त्व की शुद्धि होती है और अपात्र क्रमशः पात्रत्व प्राप्त करता है। इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इनमें से कई तो योग के अङ्गोपाङ्गों के पर्यायमात्र हैं—जैसे नियमों में परिगणित ईश्वर-प्रणिधान की भक्ति नाम से महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्ग का प्रतिपादन नहीं करती। सन्त मत के आचार्यों ने दिखला दिया है कि इस युग में भी वह द्वार पहले की भांति खुला है।

सिद्धियों की प्राप्ति भी योग का एक परिणाम है। पतञ्जलि जी कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

सन्तों ने भी इसी दृष्टि से सिद्धियों की निन्दा की है पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी विभूतियों की बहुत सी कथायें प्रसिद्ध हैं। पर इन बातों का उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूं।

❀ किसी के घर में भोजन करने पर तुम भी उसे किसी अवसर पर भोजन अवश्य कराओ। लेते हुए संकोची बनो—देने में उदार रहो।

❀ अहंकार में उन्मत्त होकर अपने आप अपनी प्रशंसा न करो और द्वेषवश दूसरे की बुराई न करो।

❀ तुम किसी प्राणी पर अकारण प्रहार न करो, किसी अन्य को मारने के लिये प्रेरित भी न करो।

❀ अशिक्षितों, मूर्खों की भांति वाणी द्वारा अनुचित, अनर्गल अभ्यास को बार-बार न दुहराओ। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष अथवा परदोषों की चर्चा बार-बार करने से अभ्यास हो जायेगा। वह बहुत कठिनता से छूट सकेगा।

❀ प्रेम में सबसे आगे रहो लेकिन जब कुछ लाभ का अवसर हो तब प्रेमपात्र को आगे लाभ उठाने दो—तुम सबके पीछे रहो।

❀ एक बार अपना निरीक्षण करके देखो। आप समाज के पतन में सहायक तो नहीं बन रहे हैं क्योंकि लालच, भय, ईर्ष्या के माध्यमसे ही विनाशकारी समाजका निर्माण हुआ है।

❀ अपने को दुखी, अशान्त बनाना पाप है। शान्त रहना, दाता प्रभु से सब कुछ मिला जानकर सदा संतुष्ट, प्रसन्न रहना अपने प्रति बड़ा पुण्य कार्य है।

ॐ श्री सद्गुरु क्यों ?

ॐ श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

विश्व के प्राणी, विज्ञान की सहायता से, सांसारिक पदार्थों की उपभोग-विधि जितना इस समय जानते हैं, सम्भव है इसके पूर्व इतना न जानते रहे हों। एक तरफ यदि विज्ञान की सहायता से महीनों एवं वर्षों का कार्य दिनों में किया जा सकता है। गर्मी के दिनों में शीतल वायु प्राप्त किया जा सकता है तो कुछ सेकेण्ड में आपकी जीवन गाथा जाने या अनजाने उसे स्पर्श होने पर समाप्त भी हो सकती है। विज्ञान प्राणीमात्र के लिये वरदान है या अभिशाप, यह एक प्रश्नवाचक शब्द है। अपने भिन्न-भिन्न सांसारिक कार्यों में व्यस्त मानव को जीवन दाता प्रभु को स्मरण करने का समय ही कहां है? वह अपने रोजी-रोटी में ही इतना लिप्त है कि उसे दूसरी वस्तु की याद ही नहीं आती। कोल्हू के बैल की तरह एक ही स्थान पर चक्कर काटते-काटते उसका अन्त समय आ जाता है। यदि किसी प्रकार किसी को समय मिल भी गया तो वह अपने संसार में व्याप्त लाभों में से ही किसी की बात करेगा! यदि उससे धार्मिक ग्रन्थों या सन्त महात्माओं या योगीजनों, सद्गुरुओं का चरित्र सुनाया जाय तो उसे एक तो अच्छा नहीं लगेगा और दूसरे उसे विश्वास भी नहीं होगा।

वह बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं किसी को अपना सद्गुरु क्यों बनाऊँ। क्या मेरे अन्दर स्थित परमात्मा मेरा सद्गुरु नहीं है? उसकी बात सही भी है कि उसके अन्दर स्थित परमात्मा ही उसका सद्गुरु है। परन्तु प्रश्न का प्रश्न से जवाब यह है कि क्या उसने अपने अन्दर स्थित परमात्मा को कभी देखा भी है? आखिर उसे कैसे देखा जायेगा? क्या वह स्वयं, अपने अन्दर स्थित परमात्मा को देखने में समर्थ भी है या नहीं, जरा कल्पना कीजिये कि अर्जुन जैसे महाबली एवं अनन्य भक्त को उन्हें भी देखने की शक्ति नहीं थी और जब अपने सद्गुरुदेव योगेश्वर श्री गोविन्द की कृपा से देखा तो देखने पर भय से काँपने लगा! हमारे, आपके और प्राणीमात्र के भाग्य विधाता दादा गुरुदेव अकारण दयालु योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने कृपा करके बात की बात में अवधूतानी शलभा को उसकी (प्रभु को देखने की) विधि बतला दी, और फिर वह निहाल हो गई! श्री गुरुदेव की आवश्यकता इसलिये ही है कि वह अपने आपका साक्षात्कार कर सके, अपने अन्दर स्थित एवं बाहर व्यक्त या अव्यक्त रूप से विद्यमान परमात्मा का दर्शन एवं अनुभव कर

सके, राजा निमि के प्रार्थना करने पर योगीश्वर श्री प्रबुद्ध ने उनसे यह बतलाया कि श्री सद्गुरु बनाना आवश्यक क्यों है? और उनकी सहायता से जीव कैसे कैवल्य लाभ करते हैं, प्रस्तुत है श्री भागवत् कथा का यही प्रसंग, राजा निमि ने योगेश्वर प्रबुद्ध से प्रार्थना की-

हे योगीश्वर ! जो प्राणी अपने मन को अपने वश में नहीं कर पाये हैं, उनके लिये तो भगवान् की माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है, इसलिये कृपाकर आप यह बतलाने का कष्ट करें कि जिसकी बुद्धि मोटी है और जो अपने शरीर में ही आत्म-बुद्धि रखते हैं, वे किस उपाय द्वारा सरलतापूर्वक इसे पार कर सकते हैं ?

योगीश्वर प्रबुद्ध ने उन पर कृपा कर उनके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देना आरम्भ किया-

हे राजन ! सांसारिक बन्धनों में बंधे हुये मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति हेतु बड़े-बड़े कर्म किया करते हैं, किन्तु उनके कर्म-फल विपरीत ही हुआ करते हैं। कर्मों के सुख के बदले दिन प्रतिदिन उसके दुःख ज्यादा होते चले जाते हैं और शान्ति के स्थान पर उसे अशान्ति ही मिलती रहती है। मनुष्य सोचता है सुख के लिए धन चाहिये। अतः धन प्राप्ति हेतु वह नाना प्रकार के कर्म करता है। एक तो धन का मिलना ही कठिन है, और यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो वह आत्मा के लिये मारक ही होता है। जो इसकी उलझन में पड़ जाता है, वह अपने आपको भूल जाता है। इसी प्रकार गृह, स्वजन, सगे-संबंधी धन आदि अनित्य पदार्थ हैं। मरने के बाद मिलने वाले लोक भी नाशवान हैं, क्योंकि वे भी कुछ कर्मों के केवल फलमात्र हैं और कर्मों के फल के भुगतान का समय समाप्त हो जाने पर वहां से भी हटना पड़ता ही है।

इसलिये हे राजन् ! जो परम कल्याण का जिज्ञासु हो, उसे तत्व-ज्ञानी, अनुभवी, शान्त चित्त और प्रपंच से दूर रहने वाले श्री सद्गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिये। वह श्री सद्गुरुदेव को ही अपना इष्टदेव माने, उनकी सेवा में रहकर भगवद् भक्ति के साधनों की शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करें। अनासक्ति तथा प्राणीमात्र के प्रति दया, मैत्री और विनय आदि गुणों का अभ्यास करें। बाहरी और भीतरी पवित्रता, अपने धर्म का अनुष्ठान, मौन, स्वाध्याय सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्दों में हर्ष-विषाद, आदि अवगुणों से सदा रहित होना सीखे। वह सभी वस्तुओं में ईश्वर को देखने का अभ्यास करे। भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसी में सन्तोष करने का अभ्यास करे। शास्त्रों में श्रद्धा, मन और वाणी का संयम, सत्य भाषण, भगवान एवं श्री सद्गुरु की लीलाओं का श्रवण-कीर्तन, ध्यान तथा यज्ञ, दान, तप तथा सदाचार के नियमों का पालन करे।

इस प्रकार का बारम्बार अभ्यास करते-करते साधक का मन अपने इष्टदेव में समाहित हो जाता है। अपने श्री सद्गुरुदेव की कृपा से वह अनायास ही माया के बन्धन को पार कर जाता है। हे राजन् ! हमारे कहने का तात्पर्य केवलमात्र इतना है कि मनुष्य को अपने परम कल्याण हेतु श्री सद्गुरु की शरण ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है।

पूर्व प्रकाशित से आगे—(२)

☆ योगासनों की परम उपादेयता

योगासन और व्यायाम

आजकल संसार में विविध प्रकार के व्यायामों का प्रचार है जो लोग कसरत करना, मुगदर चलाना, रस्सा खींचना, वजन उठाना आदि-आदि बहुत प्रकार के व्यायाम करते हैं, इन व्यायामों को करने वाले लोग बड़े हट्टे-कट्टे एवं विश्व-विजयी पहलवान दिखाई देते हैं। एक पहलवान को अपने शरीर पर बड़ा भारी अभिमान होता है कि उसके किये हुए व्यायामों के फलस्वरूप उसके शरीर में इतनी बड़ी दृढ़ता आ गई है कि उसकी मांस ग्रन्थियों को यदि बर्छियों से भी काटा जाय तो वह कट नहीं सकतीं। इस प्रकार के प्रदर्शन लोग स्थान-स्थान पर करके दिखलाया करते हैं। अपने भुज-दण्डों को फुला लेते हैं और दूसरे व्यक्तियों से कहते हैं—हाथों के मुक्कों से व डण्डों से उनको पीटें किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हो पाता। पीटने वाले थक जाते हैं किन्तु उनके उस तनाव में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आ पाती। अपने व्यायाम के इस परिणाम को देखकर वे लोग बड़े हर्षान्वित होते हैं, और समझते हैं कि हमें यह बड़ा अलभ लाभ हुआ है। किन्तु बात ऐसी नहीं होती, जैसी वह लोग अपने मन में समझते रहते हैं। उनके उस व्यायाम से एक ही जगह इतनी दृढ़ता इसलिये आ जाती है कि उनके शरीर के छोटे-छोटे स्नायु जिनका काम है सारे शरीर में रक्त का उचित मात्रा में वहन उसका वह सब जमाव एकही जगह कर डालते हैं। अतः जो कार्य सारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये होना चाहिये था वह जाता रहता है और परिणामस्वरूप वे पहलवान भी जिन्होंने कई हजार दण्ड-बैठक की हैं बार-बार रोगी दिखाई देते हैं और अन्त में उनके शरीर इतने भारी हो जाते हैं कि उनको अपना शरीर भी स्वयं भार ही दिखाई देने लगता है। चलने-फिरने, उठने-बैठने में भारी आलस्य महसूस करते हैं। उनके शरीर की ग्रन्थियों में जगह-जगह दर्द होने लगते हैं। यह परिणाम अन्यान्य प्रचलित व्यायामों से भी होते हैं, जिनका तनाव शरीर के एक भाग पर ही अधिक मात्रा में पड़ता है। इसीलिये सभी व्यायामों का अन्तिम परिणाम केवल दुःख निकलता है।

एक और बात

संसार में एक किम्वदति है। आमतौर पर लोग जानते हैं कि हमारा शरीर प्राणों पर निर्भर है और कहने वाले यह भी बतलाते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में गिनी हुई श्वांसों

की संख्या को लेकर आया करता है। जितना अधिक वह श्वासों के खजाने को बचाकर रखेगा उतना ही उसका जीवन स्वस्थ एवं लम्बा होता चला जायेगा और जो किसी भी लापरवाही से अपने श्वांसों का दुरुपयोग करते हैं वह शनैः शनैः अपनी मृत्यु को पास बुलाते जाते हैं और थोड़े ही समय में काल के ग्रास बन जाते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि अपने श्वांसों की निधि को व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये।

श्वांसों का अपव्यय कैसे होता है?

अतः हमें यह विचार कर लेना चाहिये कि हमारे श्वांसों का आना-जाना किस प्रकार से अधिक मात्रा में होता है, अधिकांश में जो लोग विलासी हैं उनके श्वांस जल्दी ही फूलने लगते हैं। वह थोड़ा सा भी कोई काम करें तो हांफने लग जाते हैं और उनको इतनी घबराहट होती है कि अब हमारे प्राण कभी भी निकल सकते हैं। उनके दिल की धड़कन बहुत अधिक मात्रा में होने लगती है, इसके अतिरिक्त जो लोग ऐसे व्यायाम करते हैं जिनमें श्वांसों का यातायात अधिक मात्रा में होने लगता है है वह अपने श्वांसों के खजाने को जल्दी ही लुटा बैठते हैं और थोड़े समय बाद ही इस पवित्र जीवन से हाथ धोना पड़ता है। अतः स्वास्थ्य को उत्तम रखने के लिये अपने श्वांसों के खजाने की सुरक्षा भी बहुत आवश्यक है। इसलिए योगी लोग प्राणायाम करते हैं और उसके परिणामस्वरूप वे लोग कालजित हो जाते हैं। अर्थात् मौत पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

यौगिक व्यायाम का शरीर पर प्रभाव

ऊपर हम शास्त्रीय विधि से योगासनों द्वारा पारमार्थिक लाभ का वर्णन कर चुके हैं। प्रत्येक योगासन के करने से पारमार्थिक लाभ अवश्यम्भावी और मन की एकाग्रता का जनक है, क्योंकि हमारे चित्त की प्रसार भूमि हमारे शरीर की नाड़ियां हैं। यदि हमारा स्नायु-मण्डल पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं रहता है तो हमारी मन की एकाग्रता भी पूर्णरूपेण नहीं हो सकती। नाड़ी-शुद्धि के लिये यौगिक व्यायाम परम उपादेय है। इसके अतिरिक्त योगासनों का व्यायाम हमारे उन आचार्यों का निकाला हुआ व्यायाम है जो चित्त के सभी परिणामों को समझने वाले थे एवं भूत भविष्य के ज्ञाता थे व उनके निश्चित किये हुए सिद्धान्त सभी पतन से परे हैं क्योंकि वह लोग सब प्रकार से परिपूर्ण थे, आप्त काम थे और प्रत्येक क्रिया के भूत भविष्य के परिणामों को भली प्रकार से समझने वाले थे। इसलिए योगासनों का व्यायाम हमारे लोक व परलोक के लिए एक सिद्ध व्यायाम है। योगासनों के करने से दण्ड व बैठकों की भांति शरीर के एक भाग पर ही तनाव नहीं पड़ता प्रत्युत शरीरके हर भाग पर

व जगह-जगह पर उसका प्रभाव पड़ा करता है। जो लोग नित्य नियम से योगासन करने वाले हैं उनका स्वास्थ्य परमोज्वल रहता है स्वस्थ शब्द का अर्थ है जिससे अपने स्वरूप में स्थिर रहे और स्वस्थ के भाव को ही स्वास्थ्य कहते हैं। योगासनों का व्यायाम भी एक इस प्रकार का व्यायाम है जिससे शरीर पूर्णरूपेण स्वस्थ रह सकता है। पाद हस्तासन, पश्चिमोत्तान, ऊर्ध्व पश्चिमोत्तान, उष्ट्रासन आदि आसनों के करने से ऐड़ी से लेकर नितम्ब भाग तक के सभी स्नायुओं में पूरी-पूरी उत्तेजना मिलती है और उड्यानबन्ध आदि स्वाभाविक ही लगने से जठराग्नि पूर्णरूपेण प्रदीप्त होता है। मल विसर्जनी नाड़ियां उत्तेजना पाकर मल का पूर्णरूपेण परित्याग करने लगती है। धनुरासन, शलभासन, नाव आसन, भुजंगासन इत्यादि आसनों के करने से शरीर के कटि भाग में पूरा तनाव पड़ता है फेंफड़ों का प्रसार होता है अतः फेफड़ों की शुद्धि कटि भाग की दृढ़ता, शरीरमान की वृद्धि आदि परिणाम आसनों के करने से अवश्यम्भावी हैं। इसके अतिरिक्त मत्स्य आसन, मत्स्येन्द्रासन, शलभ, गर्भासन, बकासन, मयूरासन, आदि सब आसन पेट से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनके करने से सभी प्रकार के उदर विकार अवश्य नष्ट हो जाते हैं। पेट बहुत नरम रहता है। किसी प्रकार के यकृत प्लीहा आदि के दोषों का स्वाभाविक समूलोन्मूलन हो जाता है। वात पित्त आदि के गुल्म रोग स्वभाव से ही छूट जाते हैं और इसी प्रकार से सर्वांगासन, हलासन, पूर्वोत्तान, ताड़ासन, वृक्षासन आदि आदि आसनों के करने से नीचे की ओर होने वाली रक्त की गति थोड़ी देर के लिये शिरोभाग की ओर होने लगती है और इसके परिणामस्वरूप सिर व छाती की बीमारियां सब जैसे यकृत प्लीहा आदि की वृद्धि अनायास ही दूर हो जाती है। जो लोग शीर्षासन या अन्य आसनों के अभ्यासी हैं उनको कठिन वीर्यविकार जो किसी प्रकार के औषधोपचार से असम्भव प्रायः हैं वे थोड़े दिन में दूर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो आसनों के नित्य करने के अभ्यासी हैं और दूध घी आदि की मात्रा उचित रूप से सेवन करने वाले हैं वे लोग इन आसनों के द्वारा अपनी युवावस्था कायम रख लेते हैं। उनका मुख-मण्डल देदीप्यमान दिखाई देता है। आजकल इस घोर कलिकाल के समय में भी वे ऐसे लोग इस अवनि-मण्डल पर दिखाई देते हैं जो शीर्षासन आदि योगके प्रमुख आसनों का घण्टों अभ्यास नित्य नियम से करते हैं। जो लोग शीर्षासन का लगभग दो घण्टे का अभ्यास यथार्थ विधि से बढ़ा लेते हैं वे लोग काल पर जय प्राप्त करते हैं। हमने अपने योग प्रचार के भ्रमण में कई इस प्रकार के व्यक्तियों को देखा है जो शीर्षासन के अभ्यासी हैं और उनकी सैकड़ों वर्षों की आयु होने पर भी वह

सब प्रकार से स्वस्थ हैं। उनके शरीर को देख कर कोई कह नहीं सकता कि ये कोई वृद्ध होंगे। युवाओं जैसी उनकी बातचीत है, दांत, डाढ़, कान और नेत्रादि इन्द्रियां पूर्णरूपेण काम करती हैं, यह उनके नैत्यिक व्यायाम का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त आसनों से पारमार्थिक लाभ होता है और जो लोग हठाभ्यास करते हैं जिनका लक्ष्य राजयोग है वे इन्हीं आसनों को करते हुए अपने शरीर में पूर्ण जागृति कर लेते हैं।

योगासन एवं कुण्डलिनी जागरण अथवा कुण्डलिनी प्रबोध

हमारे शरीर में योगाचार्यों के मतानुसार लगभग ७२ हजार नाड़ियों का वर्णन मिलता है। उन ७२ हजार नाड़ियों के अन्दर कुछ प्रमुख नाड़ियां हैं जो शरीर के विशेष भागों में अपना काम करती रहती हैं उन सभी नाड़ियों में से १४ प्रमुख मानी गई हैं।

सुषुम्णेड़ा पिंगला च,
गान्धारी हस्ति जिह्वका।
कुहू सरस्वती पूषा,
शंखिनी च पयस्विनी॥
वारुणालम्बुषा चैव,
विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः,
पिंगलेड़ा सुषुम्णिका॥

सुषुम्णा, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्ति, जिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वारुणा, अलंबुषा, विश्वोदरी एवं यशस्विनी हैं। ये १४ नाड़ियां मुख्य मानी गई हैं और इन १४ नाड़ियों में से इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन प्रमुख नाड़ियां हैं और इन तीनों में भी सुषुम्णा नाम की नाड़ी प्रमुख है ये ही ब्रह्म-द्वार है। सुषुम्णा द्वार को खोल कर ही जीवात्मा शक्ति रूप होकर शिव में लय हो जाता है। सुषुम्णा मूलाधार कमल से उठकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है और इसके मुख द्वार को कुण्डलिनी नाम की नाड़ी साढ़े तीन लपेटा लगाकर बैठी हुई है। सुषुम्णा द्वार में उसका मुख है, जब तक वह महाशक्ति जाग नहीं जाती तब तक मनुष्य देवताओं का पशु रहा करता है। इस महाशक्ति को जगाकर ही देवता लोग देवता कहाते हैं, क्योंकि उनकी शक्ति जागृत हुई होती है और शक्तिमान बन जाते हैं। मनुष्य की कुण्डलिनी सोई रहती है, तो वह दीन-हीन रहता है और शक्तिवानों की विनय करके यथा तथा अपना जीवन निर्वाह करता है, वह महाशक्ति कुण्डलिनी गुरुदेव की परम अनुकम्पा से प्राणायाम से या अन्य हठयोग की विविध साधनाओं से जग जाया करती है। हमारे योगासनों में इस प्रकार के भी आसन सम्मिलित हैं, जिनका अनवरत अभ्यास करने पर महाशक्ति कुण्ड-

लिनी जग जाती है और यह जीव सामर्थ्य को पा जाता है। भद्रासन, पश्चिमोत्तान, वज्रासन एवं शीर्षासन सभी आसन कुण्डलिनी प्रबोध करने वाले है। बहुत से हठाभ्यासी महात्मा जिनकी राजयोग में विशेष अभिरुचि नहीं है और जिन्होंने अपना लक्ष्य हठयोग ही बनाया है, वे कुण्डलिनी जागरण के लिए हठयोग की ही विशेष साधनाओं में लगे रहते हैं।

हमने श्री वृन्दावन में करौली वाली कुञ्ज में एक ब्रह्मचारी को देखा जो भद्रासन, वज्रासन शक्तिचालिनी मुद्रा और शीर्षासन इन सभी आसनों को कुण्डलिनी जागरण के लिए कई-कई घण्टों करते रहते थे। हमने उनके दर्शन प्राप्त किये और वार्तालाप में उन्होंने बताया कि वह कई वर्षों से इसी हठ-साधना में लगे हुए है और इस विषय में उनका थोड़ा सा कार्य शेष रह गया है जो लगभग दो वर्ष में पूरा हो जायेगा। दो वर्ष बाद जब हम उनके आश्रम पर गये तो पता चला कि उनके आसपास के लोगोंने बतलाया कि उनके दृढ़तापूर्वक हठ अभ्यास से कुण्ड-लिनी प्रबोध हुआ और उसके फलस्वरूप उनके प्राण ब्रह्माण्ड में जाने लगे व उनको अनवरत समाधि बनी रहने लगी। उनके सहवासियों को भी कई चमत्कार दिखलाई दिये। अन्ततः उनको तीव्र वैराग्य हुआ और वह कहीं वनों में चले गये। कहने का अभि-प्राय यह है कि योगासनों के जिन लाभों को दृष्टि-पथ में रख करके योगाचार्यों ने लिखे हैं, वे लाभ केवलमात्र इसी से सम्बन्ध रखने वाला नहीं प्रत्युत परलोक का दाता भी है।

(क्रमशः)

—❀ समाधि ❀—

जैसे लवण जल में मिलने से जल के ही रूप को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आत्मा और मन का एक रूप हो जाना समाधि कहलाता है। जब प्राण क्षीण हो जाता है और मन लीन हो जाता है तब उसे समरस संज्ञक समाधि कहते हैं, लेकिन इससे आगे जब आत्मा और परमात्मा का एक्य हो जाता है तब सम्पूर्ण संकल्पों के नष्ट हो जाने पर वह समाधि-कहलाती है। आत्मा में धारण किया गया मन आत्मा के आकार वाला यानी आत्म-स्वरूप को प्राप्ता हो जाता है। तब आत्मा और मन की एकता को भी समाधि कहने लगते हैं।

—योगी आत्माराम

योग-साधन और स्वास्थ्य की महत्ता

॥ आयुर्वेद बृहस्पति आचार्य श्री पं० शिवकुमार वैद्य शास्त्री

"व्यथित हुआ था पीड़ाओं से मेरा मन मेरी काया ।
'सिद्धयोग' में अवगाहन कर नवजीवन मैंने पाया ॥"

जितने मनुज महान हुए हैं सबका यही कथन है ।
इस वसुधा पर स्वास्थ्य हमारा सबसे उत्तम धन है ॥
बिना स्वास्थ्य के भार हमें लगता अपना जीवन है ।
शीत ताप सब झेल सकें हम यदि आरोग्य बदन है ॥
स्रोत-स्वास्थ्य शिव-संकल्पों से भरा हुआ यदि मन है ।
सर्वोत्तम रचना है प्रभु की रे शिव मानव तन है ॥
मिले स्वर्ग सा सुक्ख हमें यदि मन में लगी लगन है ।
बढ़े आयु जीवन शुभ होवे सबका स्वास्थ्य जतन है ॥

जिसने खोया स्वास्थ्य कहो वह क्योंकर सुख पावेगा ।
करके क्षीण शरीर नहीं वह कुछ भी कर पावेगा ॥
स्वास्थ्य हँसी अरु अलमस्ती सुख की है परिभाषा ।
दुख क्या है भय शोक उदासी विभ्रम क्लांति निराशा ॥

जीवन का सर्वस्व हमारे सुक्खों का यह नेता ।
रोग प्रकृति उल्लंघन लांछन जड़ता का विक्रेता ॥
स्वस्थ व्यक्ति से उत्तम कोई है शिव नहीं भुवन में ।
सुख पर है अधिकार स्वस्थ का हर्षित हो त्रिभुवन में ॥

मेरे वपु के हृदय पटल पर ओ३म् महक तड़पन है ।
लगन स्वास्थ्य की होवे तब तक जब तक उर धड़कन है ॥
जितने मनुज महान हुए हैं सबका यही कथन है ।
इस वसुधा पर स्वास्थ्य हमारा सबसे उत्तम धन है ॥

कुण्डली जागरण सभी— योग विधान का आश्रय है

❀ श्री हीरालाल शास्त्री, फर्रुखाबाद

स शैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषांयोगतन्त्राणां तथाऽऽधारोहिकुण्डली।

(हठयोग-प्रदीपिका)

पहाड़, वन आदि सभी भाग सहित पृथ्वी के आधार शेष भी है अर्थात् जिस प्रकार शेष सभी पृथ्वी पर होने वाले वृक्ष, पहाड़ आदि सहित पृथ्वी को धारण करते हैं इसी प्रकार यावत् योग तन्त्र है उनकी धारण करने वाली कुण्डली ही है अर्थात् कुण्डली के जागने पर ही यावत् योग साधन है उनमें प्रधान कुण्डली ही कही गई है।

अर्थात् बिना कुण्डली जागरण के सभी योगोपाय व्यर्थ बतलाये गये हैं। योग साधना की सफलता कुण्डली जागरण में ही कही गई है। जब सिद्ध गुरु की असीम दया से कुण्डली जागरण हो जाता है तब षट्चक्र-भेदन होता है जो कि योग का मुख्य आश्रय है—

सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदासर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च

अर्थात् कुण्डली जागरण होने पर षट्चक्र-भेदन हो जाता है और साथ में ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थि सभी खुल जाते हैं—

प्राणस्य शून्य पदवी यथा राजपथायते।
तदा चित्त निरालम्बं तदा कालस्यवञ्चनम्

अर्थात् प्राण का शून्य मार्ग (सुषुम्णा) राजमार्ग अर्थात् सड़क के समान हो जाता है जैसे सड़क पर चलने वाला सुख से चलता है इसी प्रकार प्राणवायु सुषुम्ना द्वारा सुख से गमन करता है। इसी तरह चित्त निरालम्ब अर्थात् निर्विषय हो जाता है और काल अर्थात् मृत्यु का वञ्चन हो जाता है अर्थात् मृत्यु का समय निकल जाता है।

सुषुम्ना के पर्याय—सुषुम्ना, शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथा, श्मशान, साम्भवी मध्य-मार्ग यह सम्पूर्ण शब्द सुषुम्ना के ही वाचक हैं अर्थात् इन सबका वाचक केवल सुषुम्ना ही है जिससे कुण्डली बोध होने पर षट्चक्र-भेदन आदि होता है। इसी कारण पूर्ण प्रयत्न से कुण्डली जागरण करना ही योग में प्रधान कारण माना गया है। इसके लिये मुद्राओं का अभ्यास अत्यावश्यक कहा गया है। यह मुद्रायें गणनामें दश बताई गई हैं उनका वर्णन निम्न है।

महामुद्रा महाबन्धो, महावेधश्च खेचरी।
उड्डियानं मूलबन्धश्च बंधोजालन्धराभिधः।
करणी विपरीताख्या वज्रोलीशक्तिचालनम्
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।

यह दश मुद्रायें जरामरण का नाश करती हैं। शंकरजी ने इन मुद्राओं को आठ ऐश्वर्य देने वाला बताया है।

आदिना थोदितं दिव्यमष्टैश्वर्य प्रदायकम्
बल्लभं सर्व सिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि।

अष्टैश्वर्य-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व वशित्व आठ ऐश्वर्य कहे गये हैं।

अणिमा—सिद्ध योगी के संकल्प मात्र से सूक्ष्म देह हो जाय।

महिमा—आकाशके समान महान हो जाना।

गरिमा—रुई के समान हल्की वस्तु भी पर्वत के समान भारी हो जाय।

लघिमा—अत्यन्त भारी पर्वत के समान भी रुई के समान हल्की हो जाय।

प्राप्ति—भूमि पर स्थित होकर अंगुली के स्पर्श से चन्द्रमा को छू लेना।

प्राकाम्य—इच्छा का अभिघात न होना जलके समान पृथ्वी में घुस जाना और निकल आना।

ईशिता—पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति प्रलय, पालन सामर्थ्य कही जाती है।

वशिता—सभी भौतिक पदार्थों को अपने अधीन कर लेना। यह आठों सिद्धियां कुण्डलिनी जागरण से अवश्य हो जाती हैं।

इस प्रकार यह आठ ऐश्वर्य देने वाला और सभी सिद्धों कपिलादिकों का प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ कहा जाता है। यह सभी मुद्रायें सिद्ध हो जाने पर कुण्डली जागरण हो जाता है और योगेश्वर हो जाता है। अतः कुण्डली जागरण प्रधान है। आगे सभी मुद्राओं का वर्णन किया जायगा—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम्॥
कण्ठेबन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया॥
ततः शनैः-शनैःरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्राञ्च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः॥
इमे खलुमहामुद्रा महासिद्धो प्रदर्शितः।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः॥
महामुद्राञ्च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।

अर्थात् बांये पैर की ऐड़ी से योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिंग के मध्य भाग को दबाकर दाहिने पैर को फैलाकर फिर उसी दाहिने पैर की उंगलियां ऊपर उठाकर अँगूठे को अपने दोनों हाथों की तर्जनियों से जोर से पकड़ लें, फिर जालंधरबन्ध लगाकर दोनों नासिका के इडा-पिंगला नामक दोनों पुट बन्द हो जाते हैं और कुण्डली सहसा सीधी हो जाती है। कुण्डली सीधी होने पर श्वांस रुकने से मरणावस्था-सी हो जाती है, कुण्डलीबोध होने पर सुषुम्नानाड़ी में प्राण का प्रवेश हो जाता है फिर उस वायु को धीरे-धीरे निकालदें इसका नाम महामुद्रा है।

प्राण-शक्ति

श्री स्वामी विभूतिनन्दजी सरस्वती

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और इन्हीं के अनुक्रम से पाँच ही योग हैं—हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियों को जो वश में कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्ति और साधन—

प्राणशक्ति को वश में करने वाला साधक इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों और आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डल की वार्ता भी जान सकता है। प्राण के आधार पर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूप से प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में इस प्राण का वर्णन है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

'प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है, इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राण को ही प्रजापति कहते हैं।'

प्राणशक्ति के कारण ही हमारे शरीर की नसों एवं नाड़ियों में रक्त का प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्ति के बल पर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्य की प्राणशक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक शरीर को प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियों का प्राण ही ईश्वर है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठम्॥

(अथर्व० कां० ११)

'उस प्राण को मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।'

प्राण परमेश्वर की एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुख से ही जानकर करना चाहिये। मूलाधार चक्र से साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैर की एड़ी से गुदा द्वार को बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रिय के मूल को दोनों एड़ियों से दबा-कर कुण्डलिनी को जगाया जाता है।

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सर्राई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❀❀❀—

श्री ....

....

....

....

❀ फिर क्यों ? अभी क्यों नहीं ? ❀

जीवन के अभ्युदय के लिए यह बात भी सदा ध्यान रखने योग्य है कि जहाँ-जहाँ तुम आवश्यक कार्यों के लिए 'फिर कर लेंगे'—यह कहकर टालते हो वहीं पर यह अपने मन से प्रश्न करो—'अभी क्यों नहीं कर सकते ? ऐसा कोई मनुष्य कदाचित् ही देखने को मिलेगा, जो अनेकों कामों को जिन्हें उसी समय कर लेने का अवसर है, उन्हें आलस-वश फिर करने के लिए न टालता रहता हो। यह 'फिर' ऐसा विचित्र रोग मन के साथ लगा हुआ है, जिससे जीवन भर छुटकारा नहीं मिलता और इस रोग को अच्छे-अच्छे चतुर विद्वान् व्यक्ति भी प्रायः नहीं समझ पाते। एक आवश्यक काम को करते हुए दूसरे काम को फिर कर लेने की बात तो उचित ही है, किन्तु जब तुम लेटे हुए हो और उठने की आवश्यकता है, तब कहते हो—'फिर उठेंगे', बैठे हुए कहते हो—'फिर खड़े होंगे', खड़े हुए कहते हो—'फिर चलेंगे' इस प्रकार जब कभी किसी कार्य के पीछे 'फिर' लगा देते तो अवश्य ही आलस्य की ही उपासना करते हो।

—साधुवेश से एक पथिक

—❀❀❀—

मुद्रक—प्रेमप्रकाश शर्मा 'विद्या' कार्यालय प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८

Regd. No. L. AG. 008